साहित्य सन्देश

[आलोचना मासिक]

नवम्बर-दिसम्बर १९६८

प्रकाशक :
साहित्य रत्न भण्डार, आगरा-२

वार्षिक मूल्य ६-०० रु०   इस अङ्क का मूल्य १-०० रु०

नये प्रकाशित उपन्यास

कमला शरत् एवं अन्य प्रसिद्ध लेखकों द्वारा रचित ५.५०
तट के पंछी — श्री राम शर्मा 'राम' ५.००
आँधी का उतार — ,, ५.००
स्वर्ग की झाँकी — शुकदेवसिंह सौरभ ६.००
बसंत — ,, ६.५०
कसौटी के पत्थर — अभयकुमार यौधेय ४.५०
अनहोनी — नरेन्द्र शर्मा ४.५०

बाल साहित्य

अस्सी घाव — कमल शुक्ल २.५०
मुगलों को चुनौती — ,, २.५०
हीरा झील का महल — ,, २.५०
कठपुतली नवाब — ,, २.५०
हँसते फूल मुस्काती कलियां — श्रवण कुमार २.५०
सुभाष — सुरेन्द्रकुमार २.००
पटेल — ,, २.००
जय राजस्थान — हंसराज दर्शक २.५०

कोश

नीति सूक्ति कोश — डा० रामसरूप ३०.००

गीत

मेरे गीत अधूरे गीत हैं — डा० विद्यानाथ गुप्त ३.५०

आलोचना तथा शोध-प्रबन्ध

महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध काव्यों पर प्रभाव — डा० विनय २०.००
आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास — डा० वेचन २०.००
स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य — ,, १५.००
व्यक्ति और व्यक्तित्व — कपिलदेव नारायण ८.००
बचन व्यक्तित्व और कवित्व — जीवनप्रकाश जोशी १५.००

उपन्यास

१. छोटे साहब — भगवतीप्रसाद वाजपेयी ७.५०
२. राहें अलग-अलग — यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ५.५०
३. धूप और बादल — श्री राम शर्मा 'राम' ४.५०
४. जहाँगीर — ,, ,, ४.५०
५. पाप और पुण्य — कमल शुक्ल ५.००
६. चीन के मोर्चे पर — डा० वेचन ३.००
७. गंगा — समरेश वसु ६.५०
८. सामाजिक कारा के बंदी — हरदयालसिंह ४.००
९. भँवर के बीच — श्यामलकिशोर ३.००
१०. स्वर्ग की झाँकी — शुकदेवसिंह सौरभ ६.५०
११. बसंत — ,, ६.००
१२. कसौटी के पत्थर — अभयकुमार यौधेय ४.५०

नाटक

१. राष्ट्रीय सुरक्षा के स्वर — हिमांशु श्रीवास्तव ३.००
२. इक्कीसवी सदी बाईसवीं सदी — भगवानदास सफड़िया ४.००

जीवनोपयोगी

१. आगे बढ़ो — स्वेट मार्डेन २.००
२. सफलता की कुंजी — स्वामी रामतीर्थ १.५०
३. नैतिक जीवन — रघुनाथप्रसाद पाठक २.५०
४. पाठशाला के हीरे — ,, १.००
५. देशभक्त बच्चे — ,, १.५०
६. हम क्या चाहते हैं — स्वामी विवेकानन्द १.५०
७. विश्व शान्ति का सन्देश — ,, ३.००
८. कर्मयोग — ,, २.००
९. भक्तियोग — ,, २.००
१०. भक्ति और वेदान्त — ,, २.००
११. प्राथमिक चिकित्सा — डा० केवलधीर २.००
१२. चन्द्रशेखर आजाद — जगन्नाथप्रसाद मिश्र २.००
१३. सरदार भगतसिंह — ,, १.७५
१४. कुँवरसिंह — ,, १.५०
१५. झाँकी हिन्दुस्तान की — अ० अ० अनन्त ३.५०
१६. विद्यार्थी जीवन (महात्मा नारायण स्वामी) १.५०
१७. अतीत की विभूतियाँ — हिमांशु श्रीवास्तव ३.००
१८. उपनिषदों की कथाएँ — ,, १.२५
१९. चरित्र निर्माण की कथाएं — ,, २.२५
२०. पूर्वजों की सीख — ,, ०.७५
२१. फुलझड़ियाँ — जगन्नाथ प्रभाकर ०.७५

.. देश-देश की लोक कथाएँ सन्तराम वत्स्य ०.७५
. भारतीय शिष्टाचार ,, ०.७५

ात्रा वर्णन

घाटियों के स्वर हंसराज दर्शक ३.५०
अमरनाथ दर्शन ,, २.००

़्दा

शिक्षा रवीन्द्रनाथ टैगोर २.५०
अभिनव शिक्षा शास्त्र और मनोविज्ञान चौ० हरिहरसिंह १०.००

ाव्य

कोलाहल सी० डी० गांधी सागर १.५०

कहानी-संग्रह

उर्दू की हास्यरस कहानियाँ जगन्नाथ प्रभाकर ३.५०
नारी की नवचेतना शुकदेवसिंह सौरभ २.५०

वीन्द्रनाथ साहित्य

आँख की किरकिरी ६.००
त्याग का मूल्य ६.००
कुमुदिनी ६.००
नाव दुर्घटना ६.००
घर और बाहर ४.००
गोरा ७.००
शिक्षा २.५०

ारत की श्रेष्ठ रचनाएँ

. श्रीकान्त १०.००
. गृहदाह ६.००
३. सविता ७.००
४. शेष का परिचय ७.००
५. चरित्रहीन १०.००
६. शेष प्रश्न ६.००
७. विप्रदास ६.००
८. पथ के दावेदार ७.००
९. लेन-देन ६.००
१०. देनापावना ६.००
११. शुभदा ४.००
१२. विजया ४.००

बंकिम-साहित्य

१. कमलाकांत का पोथा ३.००
२. लोक-रहस्य ३.००
३. विषवृक्ष ३.५०
४. आनन्दमठ ३.५०
५. कपालकुण्डला ३.००
६. मृण्मयी ४.००
७. देवी चौधरानी ३.००
८. मृणालिनी ३.००
९. राजसिंह ३.००
१०. इन्दिरा-राधारानी ३.००
११. रजनी ३.००
१२. चन्द्रशेखर ३.००
१३. राजमोहन की स्त्री ६.००
१४. दुर्गेशनन्दिनी ३.००
१५. नवाबनन्दिनी ५.००
१६. कृष्णकान्त का वसीमतनामा ३.००
१७. सीताराम ३.००

विषय-सूची

भाग—३०　　अङ्क—५-६

सम्पादक
महेन्द्र

सहायक
कामतागुप्त 'कमलेश'

प्रबन्ध सम्पादक
कमलेन्दु जैन

नवम्बर-दिसम्बर—१९६८

मूल्य

आजीवन	१००.००
एक वर्ष का	६.००
दो वर्ष का	११.००
तीन वर्ष का	१५.००
एक अंक का	.६०
इस अङ्क का	१.००

हमारी विचारधारा

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की कांस्य प्रतिमा का अनावरण—

राजर्षि टण्डन ने हिन्दी की जो सेवा की है तथा उसके लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया था, यह सर्व विदित है। प्रयाग ही क्या, समस्त हिन्दी प्रदेश उनके सुकृत्यों का ऋणी है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ने गत २० दिसम्बर १९६८ को अपने कार्यालय के समक्ष राजर्षि टण्डन की पूर्णाकार कांस्य-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की जिसका अनावरण सर्वोदयी नेता आचार्य बिनोबा भावे ने किया। आचार्य भावे ने अपने भाषण में कहा कि—हिन्दी ही राष्ट्र की एक-मात्र राष्ट्रभाषा है। क्योंकि देवनागरी लिपि विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि है जिसका प्रयोग सहजता से सभी वर्गों द्वारा किया जा सकता है। आचार्य भावे ने टण्डनजी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी की सराहना की तथा उसे अपनाने एवं प्रयोग करने पर बल दिया। आचार्य भावे के इस विचार से पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है कि हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल एवं आशावान है।

समारोह की अध्यक्षता गुजरात के राज्यपाल श्रीमन्नारायण ने की। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में हिन्दी की उपयोगिता पर बल देते हुए राजर्षि टण्डन के कार्यों की सराहना की।

इस पुण्य अवसर पर राजर्षि टण्डन की धर्म-पत्नी श्रीमती चन्द्र-मुखी देवी भी मंच पर आसीन थी। इसके अतिरिक्त प्रयाग नगर के बहुत से साहित्यकार, पत्रकार, राजनीतिक नेता, समाज-सुधारक तथा हिन्दी-प्रेमी उपस्थित थे।

सम्मेलन ने टण्डनजी की प्रतिमा का प्रतिष्ठापन कर एक प्रशंस-नीय कार्य किया है, साथ ही हिन्दी-सेवक को समुचित आदर प्रदान किया है। इसके लिए सम्मेलन के सभी अधिकारी एवं कार्यकर्त्ता बधाई के पात्र हैं।

भाषा कर्मशाला—

डा० नगेन्द्र और डा० विजयेन्द्र स्नातक ने पिछले दिनों दिल्ली में एक सुझाव दिया कि हिन्दी भाषा के शुद्ध व्यवहार के प्रशिक्षण के लिए एक भाषा कर्मशाला (वर्कशाप) आरम्भ किया जाय। इससे

हिन्दी के प्रयोग एवं प्रसार में बल मिलेगा। साथ ही उसकी लोकप्रियता बढ़ेगी। संसद सदस्य श्री रामगोपाल शालवाले ने व्यापारियों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने की अपील की क्योंकि हिन्दी को बढ़ाने में व्यापारियों का भी प्रबल हाथ रहता है।

डा० ओमप्रकाश ने हिन्दी के अधिकाधिक प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण बनाने पर बल दिया और हिन्दी के महत्व को भी समझाया।

सेठ गोविन्ददास का केन्द्र को सुझाव—

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन निकाय के अध्यक्ष तथा संसद सदस्य सेठ गोविन्ददास ने केन्द्रीय सरकार को सुझाव दिया है कि भाषा के प्रश्न पर आम राय स्थिर करने के लिये वह एक गोलमेज सम्मेलन बुलाये। आपने कहा कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों की जनता इस सम्बन्ध में किसी विशेष सुविधा की आकांक्षी नहीं है।

सेठ गोविन्ददास ने केरल सरकार की ओर विशेषत: उसके शिक्षा मन्त्री श्री मुहम्मद कोया की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उन्होंने राज्य विधान सभा में जो नीति विषयक वक्तव्य दिया है तथा जिसमें उन्होंने मद्रास सरकार के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन पर असहमति प्रगट की है, वह सराहनीय है। उन्होंने अपने उस वक्तव्य में केरल में हिन्दी प्रचार जारी रखने के लिये अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त किया है। वस्तुत: केरल सरकार ने यह बात भली भाँति समझ ली है कि राष्ट्रीय एकता के लिये हिन्दी भाषा ही सर्वप्रथम आवश्यक है।

आपने कहा कि आधुनिक भारत के नेताओं ने जिन्होंने इसकी आवश्यकता सर्वप्रथम अनुभव की, हिन्दी भाषी क्षेत्रों के नहीं थे। उस समय राजाराम मोहनराय ने, जो बंगाल के रहने वाले थे, घोषित किया था कि हिन्दी ही भारत में सम्पर्क भाषा का काम कर सकती है और इस प्रकार देश की एकता में सहायक हो सकती है। इसके बाद महाराष्ट्र और गुजरात ने भी यह अनुभव किया और उसके नेता लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी ने भी यही घोषणा की। ये सभी नेता अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के थे। तथा संविधान सभा में अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के सदस्य भी थे। जहाँ तक दक्षिण में हिन्दी के प्रचार का सम्बन्ध है आन्ध्र, केरल तथा मैसूर ने इसका कभी विरोध नहीं किया। क्या मैं आशा करूँ कि मद्रास के मुख्यमन्त्री तथा द्रविड़ मुनेत्र कषगम के नेता भी केरल का अनुसरण करेंगे और अपनी हिन्दी विरोधी मनोवृत्ति त्याग देंगे?

हिन्दी भाषी क्षेत्रों की जनता विशेष सुविधा प्राप्त करने की रंचमात्र भी इच्छा नहीं रखती। ऐसी स्थिति में हिन्दी तथा अहिन्दी भाषा क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को चाहिये कि वे एक साथ बैठ कर इस जटिल समस्या का एक सर्वमान्य हल ढूँढ़ निकालें। अत: मैं केन्द्रीय सरकार को सुझाव देता हूँ कि इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए वह एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित करे।

उटरिश्ट के विश्वविद्यालय में आर्य भाषाओं का अध्ययन—

हॉलैण्ड में भारत की प्राचीन सभ्यता और प्राचीन भाषाओं का अध्ययन तो बहुत समय पहले से आरम्भ हो चुका था। अब दोनों देशों के सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुये देश में भारत की आधुनिक भाषाओं का अध्ययन भी शुरू कर दिया गया है।

भारत की आधुनिक भाषाओं विशेष रूप से हिन्दी के अध्ययन के लिये हालैन्ड उटरिश्ट के विश्वविद्यालय में दो पाठ्यक्रम कराये जा रहे हैं। एक तो उन लोगों के लिये होगा जिन्होंने वह भाषा अभी आरम्भ ही की हो और दूसरा उच्चस्तर के अध्ययन के लिये। इन दोनों पाठ्यक्रमों का कार्य आरम्भ में डा० जायसवाल की अध्यक्षता में शुरू किया गया था (१९५७–६१)। डा० जायसवाल ने बुन्देली भाषा से सम्बद्ध एक शोधप्रबन्ध लिखा था और उसी से उन्हें यह पदवी दी गई थी। डा० जायसवाल के पश्चात् यही कार्य श्री लाइडन और डा० हिस्टरमन करते रहे हैं और अब डा० पी० गैफके इसे चला रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी साहित्य का इतिहास और बंगला

के साहित्य के इतिहास तथा सभ्यता पर भी पुस्तकें लिखी गई हैं।

इस विश्वविद्यालय में इन भाषाओं के अध्ययन को छोड़कर इन भाषाओं पर अनुसन्धान का कार्य भी किया जा रहा है। डा० गैफके ने हिन्दी की वाक्य रचना और कई विषयों के सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी है। बीसवीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यासों और वार्तिक पर भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। भक्तिकाल में एक प्रथा चल पड़ी थी कि भक्त-जन परमात्मा को उलाहने दिया करते थे। इस पर एक निबन्ध डा० गैफके ने जर्मनी में हुये एक सम्मेलन में पढ़ा था।

पिछली शताब्दी में भारत से बहुत से लोग सूरीनाम में जाकर बस गये थे। इन भारतियों ने वहाँ जाकर भी अपनी सभ्यता को कुछ हद तक वैसे का ही वैसा ही रखा। श्री उश्रबुद्ध आर्य ने इन लोगों के लोकगीतों को इकट्ठा किया है और उन पर एक निबन्ध तैयार किया है। इन गीतों से यह जानने के प्रयत्न किये जा रहे हैं कि इनका भारतीय गीतों से कितना सम्बन्ध है। इन गीतों के कई टेप रिकार्ड भी तैयार करवाये गये हैं और उन्हें अनुसन्धान के काम के लिये बरता जा रहा है। इसी अनुसन्धान पर रेडियो हालैण्ड से दो भाषाओं का भी प्रबन्ध किया गया है।

रामायण का रूमानी भाषा में अनुवाद—

हिन्दुओं का प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामायण' रूमानियाँ की जनता में बहुत ही लोकप्रिय हो रहा है। राजाजी द्वारा लिखित रामायण का रूमानी भाषा में अनुवाद मद्रास विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र सम्बन्धी उच्च अध्ययन के शोधकर्त्ता डा० एस० ई० देमेत्रियन ने किया है। इसकी रूमानियाँ में अब तक ६० हजार प्रतियाँ बिक चुकी है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह अनूदित कृति अभी पिछले अगस्त में ही प्रकाशित हुई है। इतने शीघ्र इतनी प्रतियों की बिक्री से प्रत्यक्ष प्रमाणित होता है कि हमारे धर्म-ग्रन्थ रामायण का उस देश में कितना प्रचार एवं प्रसार हो रहा है तथा जनता हमारी संस्कृति एवं समाज को जानने को कितनी उत्सुक है।

केरल सरकार हिन्दी शिक्षा के पक्ष में—

केरल के शिक्षा मंत्री श्री सी० एम० मुहम्मद कोया ने राज्य विधान सभा में बताया कि केरल सरकार का ऐसा विचार है कि देश की एकता के संवर्धन के लिए हिन्दी की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

उन्होंने कहा—राज्य सरकार के विचार से, जिसने त्रिभाषा फार्मूला को स्वीकार कर लिया है, हिन्दी का पठन-पाठन केरल के अपने हित में है।

श्री कोया ने कहा कि केरल सरकार भाषा के मामले में मद्रास का अनुगमन नहीं करना चाहती।

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार महोत्सव—

नई दिल्ली में शुक्रवार २० दिसम्बर के शाम को विज्ञान भवन में कन्नड़ के प्रख्यात कवि डा० कु० वें० पुट्टप्पा तथा गुजराती के मूर्धन्य कवि श्री उमाशंकर जोशी को भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार से सम्मानित किया गया जो देश का सर्वोच्च पुरस्कार है। १९६७ का यह पुरस्कार सन् १९३५ से १९६० के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ चुनी गयी कृतियों के लिए है।

पुरस्कृत महाकाव्य 'श्री रामायण दर्शनम्' और गुजराती काव्यकृति 'निशीथ' ये दोनों कृतियाँ भारतीय भाषाओं में १९३५ से १९६० के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ निर्णीत हुई हैं।

श्रीमती रमा जैन ने अपने स्वागत भाषण में कहा—यह समारोह इस बात का प्रतीक है कि देश के साहित्यकार समीक्षकों ने आपके सृजन को समग्र भारतीय साहित्य की उपलब्धि और उसके मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है, सम्मानित किया है। हमें गर्व है कि भारतीय ज्ञानपीठ की इस कल्पना को आपके कृतित्व द्वारा सार्थकता मिली है कि वह पुरस्कार राष्ट्र की मूलभूत एकता को रेखाङ्कित करता है और उसे साहित्य के माध्यम से व्यवहार में प्रत्यक्ष दर्शाता है। आपका यह स्वागत वास्तव में समस्त

साहित्य-जगत की ओर से है, देश के उन लाखों-करोड़ों पाठक-पाठिकाओं की ओर से है जिनके जीवन को आपने भव्य आनन्द से पूरित किया है और भाव-सम्पदा से संतृप्त किया।

श्री पुट्टप्पाजी, आप की काव्य-प्रतिभा और कल्पनाशीलता वास्तव में धन्य है कि जिस रामकथा को वाल्मीकि, कंबन, पंप और तुलसीदास जैसे महाकवि काव्य-शिखर पर प्रतिष्ठित कर गये, उसे ही आपने अपनी काव्य-साधना का मूलाधार बनाया और 'श्री रामायण दर्शनम्' महाकाव्य की रचना करके देश-व्यापी ख्याति अर्जित की। आपके उदात्त युगबोध ने रामकथा को नये आयाम दिये हैं और आधुनिक भारतीय काव्य को कल्पना तथा शिल्प का नया चमत्कार।

और 'निशीथ' न केवल गुजरात या भारत में चमकने वाला चन्द्रमा है, वह हमारी संस्कृति का नटराज है जिसने विश्व के फलक को अपनी क्रीड़ा-भूमि बनाया है। श्री उमाशंकर जोशी ने एक ओर प्राचीन भारतीय महाकाव्यों की भाव-वृद्धि को युगीन कल्पना और सृजन की नई गरिमा से मण्डित किया है और दूसरी ओर आधुनिक जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय चेतना-पुलक को और त्रास को वाणी दी है। वे मानवता के कवि हैं। उसकी आत्मा के खण्डहरों के द्रष्टा हैं, उनका काव्य उसकी आस्था का स्तम्भ है।

समारोह का सभापतित्व प्रवर परिषद के अध्यक्ष एवं उत्तरप्रदेश के राज्यपाल डा० गोपाल रेड्डी कर रहे थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होने दोनों कवियों के कृतित्व पर प्रकाश डाला और कहा - इस तीसरे पुरस्कार समारोह के अवसर पर जब हम भारत के दो श्रेष्ठ कवियों को एक साथ अपने बीच पाते हैं तो निश्चय ही यह संयोग हमें दुगुना आनन्दित कर रहा है।

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने दोनों कवियों को दी जाने वाली प्रशस्तियों का वाचन किया जो ताम्रपट पर कलात्मक ढग से खुदी हुई थीं। डा० गोपाल रेड्डी ने डा० पुट्टप्पा को तिलक लगाया, वाग्देवी प्रतिमा, प्रशस्ति तथा चैक भेंट किया और बाद में इसी तरह श्री उमाशंकर जोशी को तिलक लगाकर वाग्देवी प्रतिमा, प्रशस्ति और चैक भेंट किया।

इस अवसर पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित पुरस्कृत दोनों कृतियों के हिन्दी अनुवाद का ग्रन्थ-विमोचन भारत के प्रमुख न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला ने किया।

डा० पुट्टप्पा ने अपना भाषण कन्नड़ में पढ़ा जिसका अंग्रेजी तथा हिन्दी अनुवाद साथ-साथ प्रसारित हो रहा था और श्रोताओं के कानों में हैडफोन द्वारा पहुँच रहा था जैसेकि विज्ञान-भवन में सुना जा सकता है। उन्होंने कहा कि कन्नड़ साहित्य का आरम्भ १०वीं शताब्दी के जैन कवियों की कृतियों से होता है। प्रादेशिक भाषायें शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए क्योंकि इसका प्रयोग उन्होंने अपने उपकुलपति के कार्यकाल में ही अनुभव से सिद्ध किया है। भारतीय समग्रता और एकता राजनैतिक दृष्टि से भले ही अर्वाचीन हो लेकिन धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से परम प्राचीन है। श्री पुट्टप्पा ने कहा कि बाँसुरी में जैसे अनेक छेद होते हैं वैसे ही माँ भारती की अनेक जिह्वायें भी होती हैं। पीपी बजाने वाले बालक के लिये बाँसुरी के ये छेद कठिनाई उत्पन्न कर देते हैं लेकिन वेणुवादन पटु कुशल संगीतज्ञ के लिये उन छेदों की अनेकता ही आवश्यक साधन बनती है जिसके सहारे स्वरमेल के माधुर्य को साधने में वह सफल हो जाता है।

श्री उमाशंकर जोशी एक भाषाशास्त्री होने के नाते पहले गुजराती में, अनन्तर हिन्दी में और अन्त में अंग्रेजी में भाषण दिया। उन्होंने कहा—"भारतीय कवि की निर्मिति का आधारभूत तत्व निश्चय ही सारे विश्व की चिन्ता का सहगामी हो, इससे कुछ कम नहीं।" कवि की प्रत्येक कविता के सृजन के साथ आत्मिक परिपक्वता प्राप्त होती है।

कवि उमाशंकर जोशी ने कहा कि भारतीय कवि की निर्मिति का आधारभूत तत्व यह है कि वह विश्व की चिन्ता का यातना का सहगामी हो और वह जितना ही अधिक विश्व प्रवण होगा उतना ही अधिक भारतीय भी होगा। यह कवि रवीन्द्र ठाकुर के उदाहरण से स्पष्ट है। श्री जोशी ने अपना भाषण हिन्दी, अंग्रेजी व गुजराती में दिया।

नयी कविता में युगबोध

डा० तपेश चतुर्वेदी

नयी कविता में 'नयी' विशेषण को लेकर अनेक मत प्रकाश में आये हैं। यहां तक कि नयी कविता को एक काव्य-प्रवृत्ति के रूप में ही स्थापित कर दिया गया है। 'नयी' एक विशेषण मात्र है जो छायावादोत्तर कविता को वादचिह्नित सीपी में बन्द बूढ़ी कविता से पृथक करता है। अतएव यहाँ मैं नयी कविता का विवेचन किसी काव्य-प्रवृत्ति के रूप में नहीं अपितु कविता के नूतन स्वरूपों को बदले सन्दर्भों तथा नये भावबोध और युगबोध के परिवेश में प्रस्तुत कर रहा हूँ। यों भी कहा जा सकता है कि 'नयी' शब्द 'साम्प्रतिक' के अर्थ में ग्रहण किया गया है जिसका अथ तारसप्तक (१९४३) के प्रकाशन में और इति भविष्य के गर्भ में है।

नई कविता का पहला दौर छठवें दशक तक आते-आते समाप्त हो जाता है। इस अवधि में जिस नई कविता को प्रस्तुत किया गया उसमें प्रयोगात्मक वैयक्तिक सत्य का स्वर अधिक प्रबल रहा। यह वैयक्तिक आत्मनिष्ठ भावना नयी कविता का केन्द्रबिन्दु बनी रही। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, कुँवरनारायण, सर्वेश्वरदयाल, अजितकुमार, कीर्त्ति चौधरी, दुष्यन्तकुमार, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ने अपनी रचनाओं में जिन निजी तथ्यों को व्यक्त किया है वे परम्परा से विलग, वैयक्तिकता से संसिक्त और चिन्तन तथा बौद्धिकता के आवरण में लिपटे हुए हैं। यथार्थता एवं भावबोध के नाम पर रागात्मकता, शील तथा आभ्यन्तर सौन्दर्य से पराङ्मुख होकर इन कवियों में से कुछ ने भदेस, विकृत, जुगुप्सा-व्यंजक उपमानों तक से अपनी रचनाओं को अलंकृत किया है। इसका कारण नई कविता में 'अस्वीकृति का रिनैसां' भी है जिसका उल्लेख गिरिजाकुमार माथुर ने अपनी शैली के सन्दर्भ में किया है। यह अस्वीकृति, परम्परा, गाम्भीर्य, आदर्श, सौन्दर्यबोध आदि को तिरस्कृत करती है और आधुनिकता, उथलापन तथा कुरूप यथार्थता को अपनाती है।

ऐसा कहने से मेरा अभिप्राय यह नहीं कि तत्कालीन कवियों की रचनायें अपाहिज या अशक्त हैं। अज्ञेय, जगदीश गुप्त, मुक्तिबोध, केदारनाथसिंह, बालकृष्णराव, धर्मवीर भारती आदि ने आधुनिकता के परिवेश में जिन सशक्त और आस्थावान रचनाओं को प्रस्तुत किया है, वे नयी कविता की प्राण-शिरायें बन गई हैं। नई पीढ़ी के कवियों के प्रेरणा-स्रोत ये कवि नैराश्य के धुँधलके को चीर कर नये मार्ग और जीवन्त स्वरों को देने वाले जीवन-द्रष्टा हैं।

अज्ञेय ने 'सांप' शीर्षक कविता में वर्तमान नागरिक जीवन की स्वार्थपूर्ण जहरीली प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न परिवेश को अति सहज ढंग से व्यक्त कर दिया है—

> सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे
> नगर में बसना भी तो तुम्हें नहीं आया
> एक बात पूछूँ, उत्तर दोगे ?
> फिर कैसे सीखा डसना ?
> विष कहां पाया ?

इस उक्ति में नई कविता की समाज-सम्पृक्तता का प्रतिनिधि स्वरूप परिलक्षित होता है। अज्ञेय के अनेक काव्य-संग्रहों में से 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर'; 'बावरा अहेरी', तथा 'इन्द्रधनु रौंदे हुए' की रचनाओं में जो स्वर मिलता है वह नई कविता

का प्रेरक स्वर है। आगे आने वाली पीढ़ी ने नारी के जिस मात्र भोग्या रूप को दर्शाया है वह अज्ञेय में नहीं था। उनकी उद्घोषणा तो यह थी—

मत हँसो नारी, मुझे अपना वशीकृत जान।
तोड़ दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान॥

नयी कविता के प्रबल समर्थक जगदीश गुप्त की कविता आज के विविध और उलझे हुए परिवेश को आस्था के स्वरों में अभिव्यक्त करती है—

भटकने के लिए भी एक साहस चाहिए।
जो भी नये पथ आज तक खोजे गये।
भटके हुए इन्सान की ही देन है।

विध्वंस की बिभीषिकाओं से प्रपीड़ित समाज को विश्वास का बल देने वाले शिल्पी को आह्वान करता हुआ आस्था संवलित स्वर बालकृष्णराव की निम्न पंक्तियों में मिलता है—

उठो शिल्पी
तुम्हें पाषाण काल से
न जाने आज
कितनी मूर्तियाँ आवाज देती हैं

नयी कविता में विवेक और तर्क को सर्वाधिक महत्व मिला है। परम्परा के प्रति उसकी आस्था छिन्न हो चुकी है। परम्परा को नवीन स्वर देने की क्षमता भारती में है। नयी कविता में सम्प्रेष्य वस्तु का जो प्रश्न खड़ा किया गया उसका उत्तर भारती की रचनाएँ 'अन्धायुग' तथा 'कनुप्रिया' हैं। पुराने विषय में युगबोध सम्पन्न नयी वस्तु को प्रस्तुत किया गया है। ये कृतियाँ नयी कविता का आदर्श भी मानी जा सकती हैं। आधुनिक युग की विगलित तथा विच्छिन्न परिस्थितियों की विकृति की ओर कितनी मगमता से संकेत किया गया है—

युद्धोपरान्त
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं।

आधुनिक युगबोध मानव के स्वरूप का विकास या ह्रास को समझे बिना अधूरा रह जाता है। आज का यान्त्रिक मानवी रूप या तो एक लोहे का टुकड़ा बन कर रह गया है या फिर निश्चेष्ट ठूँठ।

कुँवर नारायण ने अपनी स्थिति के चित्रण द्वारा आधुनिक युग के मानव की स्थिति का जो चित्र खींचा है उसमें आस्था और आत्म विश्वास स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है—

मेरे हाथ में टूटा पहिया
पिघलती आग-सी संध्या
बदन पर एक फूटा कवच
सारी देह क्षत-विक्षत
धरती-खून में ज्यों सनी लथपथ लाश
सिर पर गिद्ध-सा मँडरा रहा आकाश।

साठोत्तरी नई कविता बहुत उलझी हुई है। इन सात वर्षों में ही नई कविता ने अनेक क्रान्तिकारी रूप धारण किये हैं। इतने कम समय में इतने अधिक मोड—वह भी एक विधा में—इससे पूर्व शायद कभी नहीं आये। इन समस्त रूपों को देखने के पश्चात् यदि एक ओर छटपटाहट, अस्थिरता, उच्छृङ्खलता तथा विद्रोह पाकर क्षोभ होता है तो दूसरी ओर 'वाद' के शिकंजे से मुक्त, स्वच्छन्द गति से विकसित होने वाली आधुनिक युगबोध से सम्पृक्त नयी कविता का स्वस्थ रूप सन्तोष भी प्रदान करता है।

साम्प्रतिक कविता के रचयिताओं की नयी पीढ़ी विद्रोहात्मक होने के नाते परम्पराओं और रूढ़ियों को अस्वीकार करती है। वह कविता को नित-नये रूपों में प्रस्तुत करने में संलग्न है। नयी कविता की अनेक धाराओं में अकविता, बीटनिक कविता, दिग-म्बरी कविता, विद्रोही कविता, युयुत्स कविता, अस्वी-कृत कविता के रूप कुछ-कुछ उभरे हैं। इन समस्त रूपों को केवल अकविता के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है क्योंकि इनमें पारस्परिक भेद अधिक नहीं है। इन सबका स्वर अस्वीकृति का है और आक्रोशपूर्ण है। दूसरी धारा तटस्थ किन्तु जागरूक रहते हुए अपने चारों ओर के परिवेश, समाज तथा वातावरण को लक्षित करते हुए उनका सच्चा, यथार्थ वर्णन करते हैं। इनमें युगबोध की संचेतना है और तीक्ष्ण, विश्लेषणा-त्मक दृष्टि है। इन दो धाराओं के अतिरिक्त एक और

धारा नयी कविता के अन्तर्गत मिलती है जो प्रयोगवादियों की भाँति नये प्रतीकों-उपमानों को लेकर, छायावादियों की भाँति प्रकृति के उपादानों को मानवीकरण द्वारा सचेतन बनाते हुए, उपमाओं और रूपकों का सहारा लेकर, नये-नये आंचलिक शब्दों का प्रयोग करके आधुनिक भावबोध से युक्त अधुनातन छन्दों में नवगीत प्रस्तुत कर रही है। इस धारा में नवोदित गीतिकार शचीन्द्र भटनागर, रमेश रंजक, उमाकान्त मालवीय, रवीन्द्र भ्रमर, भूपेन्द्रकुमार स्नेही आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

प्रथम धारा की 'अकविता' का उदय कविता के परम्परित शिल्प तथा कथ्य की रूढ़ियों के विरोध स्वरूप ही हुआ है। अकविता के वास्तविक रूप को समझने के लिए प्रभाकर माचवे कृत रचना को देख लेना पर्याप्त होगा—

उसने अमरती खाई
उसने अमृत ब्रांड चाय पी
उसने अमृतसर की सैर की
उसने अमृता शेरगिल के चित्र देखे
उसने अमृतलाल नागर का हास्य पढ़ा

इस रचना में 'अमृत' की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त और क्या है ? अकविता के पक्षधर भी इस बात को मानते हैं कि अकविता वर्तमान के कुरूप, भदेस रूपों को कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने की प्रणाली मात्र है। रस धारा के अन्य रूपों में कविता को देखा जाय तो सिवा हत्या, जुगुप्सा, मैथुन, जंघावर्णन, आत्मरति तथा यौन सम्बन्धी विकृति अभिव्यक्तियों के और कुछ नहीं मिलेगा। इन कविताओं के उदाहरण देना मैं उचित नहीं समझता क्योंकि उनसे सड़ाँध फैलने की आशंका है।

दूसरी धारा के जागरूक कवि सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश में व्याप्त विसंगतियों को तटस्थ रूप से देखते हैं और व्यक्ति मन पर पड़े उनके प्रभावों को संवेदनशीलता से व्यक्त करते हैं। युगबोध को प्रस्तुत करने वाले इन नये कवियों ने अपने वर्तमान को खुली आँखों से देखा है। उसमें परिव्याप्त कटुता, घुटन, नैराश्य, अनास्था, कुण्ठा आदि को शब्द दिये हैं। इसीलिए इनकी कविताओं में तीखापन, व्यंग्य, अकुलाहट और विद्रोह है।

नये कवि ने सामाजिक विसंगतियों का जो अवलोकन किया है और विषम परिस्थितियों के जो थपेड़े खाये हैं उनसे क्लान्त होकर वह कहता है—

धूप
और जहर
और जिन्दगी
अब कोई फर्क नहीं रह गया है।

नयी कविता के भावप्रवण रूप 'नवगीत' में जो युगबोध है उसका सच्चा प्रतिनिधित्व वीरेन्द्र मिश्र द्वारा राजनगर की संध्या को समर्पित एक मुक्तगीत 'राजसमुद्र की शतरंज सन्ध्या' में मिलता है जिसके माध्यम से राजधानी दिल्ली की अतिरंजित परन्तु कड़वे या निबोली सी कड़वी जिन्दगी को उघाड़ कर रख दिया गया है।

इस तरह उपर्युक्त परिवेक्षण स्पष्ट कर देता है कि नयी कविता जिन्दगी के बहुत निकट आ चुकी है। उसके द्वारा जीवन के सत्यों का निर्भ्रान्त उद्घाटन हुआ है, शिल्प तथा कथ्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। नये रूपकों, प्रतीकों तथा उपमानों की स्थापना हुई है। भावबोध तथा युगबोध के परिवेश बदले हैं। कल्पना की रंगीनियों के स्थान पर यथार्थ का अनुभूतिपूर्ण चित्रण किया गया है और इन सबको व्यंजित करने वाली भाषा की अर्थवत्ता में अभिनव विकास हुआ है। नयी कविता का भविष्य उज्ज्वल है। यह उज्ज्वलतर और उज्ज्वलतम हो सकता है। यदि इसमें से जटिलता, दुरूहता, अतिशय बौद्धिकता, यौनतृष्णा-भाव निकाल दिया जाय और सुबोध सारल्य, स्पष्टता, भावप्रवणता, गम्भीर शालीन चेतना की प्रतिष्ठा हो जाय।

—हिन्दी-विभाग, किशोरी रमण कालेज, मथुरा।

गीति काव्य : एक सर्वेक्षण

● सीताराम शास्त्री

वेदना एवं उल्लास के अतिरेक से हृत्तन्त्री स्पन्दित होकर जो स्वर विधान करती है, वह गीति काव्य की संज्ञा प्राप्त करती है। हर्ष-विषाद, सुख दुःख प्रसन्नता तथा मिलन-वियोग का उल्लास एवं वेदना जब हृदय की सहन शक्ति की सीमा का उलंघन कर जाती है, तो उसका प्रस्फुटन या तो आनन्द के मुक्ता-कणों या व्यथा के अश्रुओं या गीतिमय स्वर-लहरियों में होता है। यदि ऐसा न हो तो हृदय विदीर्ण हो जाय। उसकी गति बन्द हो जाय और मानव उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति सदा के लिए खो बैठे। अतः गीति काव्य उसके हृदय के हर्ष एवं विषाद के क्षणों में ऐसी क्षमता पैदा करता है जिससे वह अन्य मानवों को समान भागी बनाकर हलका हो जाता है। आवेगों एवं मनोवेगों की तीव्रता स्वतः ही गीति काव्य के रूप में प्रवाहित होकर मानस लहरी को कण्ठ के द्वारा अधरों पर थिरकने लगती है। यही काव्य का भी मूल है। इसीलिए तो—

मा निषाद, प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

वनचारी वाल्मीकि के हृदय में निषाद के बाण से विद्ध क्रौंच को देखकर करुणा का सागर उमड़ पड़ा। इसी करुणा ने ही रामायण महाकाव्य की सृष्टि की।

इस प्रकार काव्य मात्र की प्रेरणा वेदना की आह, करुणा की पुकार और वियोग की टीस तथा मिलन का उल्लास है। किन्तु काव्य में कवि के हृदय या व्यक्तित्व के माध्यम से सुख-दुःख, करुणा-वेदना, अभाव एवं अन्य आवेग अपने तीव्र आवेश में प्रस्फुटित होते हैं। गीति काव्य की प्रत्येक सूक्ष्म अभिव्यक्ति शुद्ध एकांतिक व्यक्तित्व के माध्यम से ही की जाती है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में—'यों तो काव्यमात्र कवि की आत्माभिव्यक्ति है, परन्तु गीति काव्य की वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति का तात्पर्य है कि वह अपरोक्ष होने के साथ ही तीव्र भावात्मक होती है। आत्म कथा, भले ही वह पद्य बद्ध हो, गीति काव्य नहीं हो सकती। गीति काव्य हृदय के उस गम्भीर भावावेश का परिणाम है, जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेग के साथ निःसृत होता है। तीव्र भावापन्नता के कारण गीति काव्य में काव्य का वह गुण सबसे अधिक विद्यमान रहता है, जिसके कारण उसे रसात्मक वाक्य (विश्वनाथ) सरल, ऐन्द्रिय और भावावेग पूर्ण (मिल्टन) और सरल भावों का स्वतः परिवर्तित प्रवाह अथवा कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों का स्रष्टा (रस्किन) कहा गया है।"

यह कहना कि गीति काव्य पूर्णतया पश्चिम की देन है, नितान्त असंगत विचार है। "गीति" शब्द अलबत्ता हमारे लिए नया है। प्रथम संस्कृत काव्य में 'गीत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो कि संगीत प्रधान हुआ करता था। 'गीति' शब्द के अस्तित्व में आने के सम्बन्ध में डा० रामखेलावन पाण्डेय लिखते हैं—'लिरिक में तत्व बोध के लिए निर्मित आधुनिक शब्द है, जिसका मूलभूत आधार गीत अथवा गीतिकाव्य है। गीति का प्रयोग प्राचीनतम है—गीतशब्दित-गानयोः (हेमचन्द्र) और 'गीत' गानमिमेसमे (अमर कोश) 'गीति काव्य' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग लोचन प्रसाद पाण्डेय ने 'कविता-कुसुम माला'

(प्रथम संस्करण, जून १९०९) की भूमिका में किया। इन उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हुई कि यद्यपि गीत शब्द भारतीय साहित्य में अति प्राचीन है, किन्तु गीत शब्द से ही व्युत्पन्न 'गीति' शब्द अपने स्वरूपगत दृष्टि से हमारे लिए नया है। किन्तु इस का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि गीति की आत्मा या गीति तत्व हमारे प्राचीन साहित्य में नहीं थे। श्री प्रेमशङ्करजी लिखते हैं—गीति काव्य की भारतीय परम्परा काव्य के अन्य रूपों की भाँति धार्मिक ग्रंथों से उत्पन्न हुई है। वेद की रचनाएँ समवेत स्वर से उच्चरित की जाती थीं। सामवेद में आकर संगीत तत्व की प्रधानता हो गई। उसकी रचनाओं में गेयता भी अधिक है। संगीत के वाद्य यन्त्र, अदम्बर, दुन्दुभि कंधवीणा आदि का वर्णन वेदों में मिलता है।'

श्री कीथ महोदय के विचारानुसार यदि हम संस्कृत साहित्य पर विचार करें तो आदि कवि वाल्मीकि से अन्तिम कवि जयदेव तक गीति तत्व से परिपूर्ण एक काव्य विधा की सतत धारा अन्त: सलिला सरस्वती की भाँति बहती हुई दृष्टि गोचर होगी। लेकिन संस्कृत साहित्य में गीति काव्य मुखर नहीं हो पाया। वह दबे-दबे और छिपे-छिपे ही आगे बढ़ता गया।

हिन्दी-साहित्य में गीतिकाव्य का समारम्भ विद्यापति से होता है। विद्यापति ने अवश्य ही अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के कवि गीतगोविन्दकार जयदेव से प्रेरणा प्राप्त की है। जयदेव अपने सुकोमल संगीतमय भावों और छन्दों के लिए अति प्रसिद्ध हैं। उनकी कोमल-कान्त-पदावली से युक्त एक गीति देखिए—

ललित लवंग लता परिशीलन,
कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करंबित कोकिल
कूजित कुंज कुटीरे।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में गीतिकाव्य का वास्तविक प्रवाह मैथिल कोकिल विद्यापति के गीतों से ही प्रारम्भ होता है। उन्होंने अपनी कोमलकान्त पदावली द्वारा अपने गीतों में मधुरता, सुकुमार सरलता, कोमलता एवं मृदुलता का समावेश किया, इसी कारण वे अभिनव जयदेव 'कविकण्ठाभरण' मैथिल कोकिल आदि नामों से विभूषित हुए।

विद्यापति के पश्चात् भक्तिकाल के कवि आते हैं। इन कवियों ने अपनी नम्रता, अपनी दीनता, अपनी तुच्छता और हेयता से परिपूर्ण तथा अपने आराध्य के सम्मुख अपने अकिंचन व्यक्तित्व को खोल कर प्रचुर काव्य की सृष्टि की। इस काव्य में आत्म-निवेदन की तीव्र आकांक्षा है। भक्तिकालीन सन्तों ने दो और प्रकार के काव्य की सर्जना की। प्रथम वह काव्य जिसमें अपने आराध्य की स्तुति, कीर्तन, वन्दना, प्रार्थना आदि के भाव भरे हुए हैं।

द्वितीय वह काव्य जिसमें अपने इष्टदेव की लीलाएँ, उसका सौन्दर्य, उसकी वीरता एवं उसके आदर्श की चर्चा हुई है। सन्तों के इस प्रचुर साहित्य के सम्बन्ध में श्री डा० ब्रजेश्वर वर्मा लिखते हैं—"गीतिकाव्य की स्वानुभूति मूलकता के अन्तर्गत उन रचनाओं को भी सम्मिलित करना चाहिए जिनमें कवि की भावानुभूति भिन्न माध्यम से व्यक्त हुई है। हिन्दी का विपुल वैष्णव-भक्ति काव्य जिसमें कृष्ण या राम की कथाओं के विभिन्न पात्रों के माध्यम से कवियों ने अत्यन्त घनिष्ठ आत्मनिवेदन किया है, सच्चे अर्थ में गीतिकाव्य ही है। इस प्रकार आत्म-निवेदन, विरह-मिलन आदि भावों से ओत-प्रोत प्रचुर गीतिकाव्य भक्तिकाल में देखा जा सकता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"कृष्णचरित के गान में गीतिकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने किया।" उत्तर भारत के वैष्णव कवियों में शृङ्गार और सौन्दर्य की भावना कुछ संयत अवश्य हो गई थी, किन्तु आलम्बन राधा-कृष्ण ही थे। निर्गुण उपासकों के गीतों में नीति और अध्यात्म की प्रधानता होने के कारण भावों की तन्मयता उतनी न आ सकी। कबीर की—झीनी-झीनी रे बीनी चदरिया। काहे के ताना, काहे के भरनी, कौन तार सों बीनी रे चदरिया।।" में वह भाव-प्रवणता और

रागात्मक आवेश नहीं जो स्वर संगीतकारों में रहता है। किन्तु संगीत का प्रभाव उसमें भी है।

फिर भी कल्पना और भाव-प्रदर्शन की शक्ति होते हुए भी सन्तों की रचनाओं में गीतिकाव्य अपने पूर्ण वैभव को न प्राप्त कर सका। मीरा की प्रेम-साधना में एक बार पुनः गीत तरंगित हो उठे। मीरा ने लोक-लाज को त्यागकर मोहन, मदनगुपाल, नन्दलाल को अपना पति मान लिया। इसीलिए उनके गीतों में आत्मानुभूति, आत्मसमर्पण की भावना और कोमलता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। आत्म-समर्पण की भावना में गायिका अपनी सुध-बुध खोकर कह उठी—

दरसन बिन दूखन लगे नैन।
जब ते तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहूँ न पाई चैन ।।
शब्द सुनत मोरी छतिया कांपे, मीठे लागे बैन।
एक टक टकी पन्थ निहारूँ, भई छमासी रैन ।।

इस प्रकार मीरा के गीतिकाव्य में वेदना की तीव्र अनुभूति के कारण एक तन्मयता और वैयक्तिकता की छाप आ गई है, जो उत्कृष्ट गीतों के लिए आवश्यक है। मीरा के गीतों में भक्ति और प्रेम के सामंजस्य की बेसुधी पूर्ण रूप से पाई जाती है। उनके गीत हृदय से निकल कर स्वच्छन्दता से प्रवाहित होते हैं और सांसारिक बन्धनों के प्रति विद्रोह की भावना भी बलवती होकर आई है। नीति, मर्यादा सभी को वे पार कर जाती हैं। नारी की समस्त सुकुमारता के साथ निष्ठा इन गीतों में साकार हो उठी है।

वैष्णव कवियों ने राधा-कृष्ण के प्रेम में गीतिकाव्य का सागर ही लहरा दिया है। इन भक्त कवियों में भक्ति में ज्ञान के स्थान पर प्रेम का अधिक आग्रह है। विशेषकर कृष्णभक्ति में यह प्रेम अनेक रूपों में बिखरा हुआ है। कभी भक्त अपने आराध्य का चिन्तन दास बनकर करता है, तो कभी वह माधुर्य भाव में डूब जाता है। अमर कलाकार भक्त प्रवर प्रज्ञाचक्षु सूर ने गीतिकाव्य को चरम विकास दिया। उन्होंने नन्दनन्दन गोपीवल्लभ, मुरली मनोहर के सौन्दर्य शील एवं प्रेम को गीतों में व्यंजित करके वात्सल्य, शृङ्गार और भक्ति की वह त्रिवेणी प्रवाहित की है जिसमें अवगाहन करके भक्त आत्मविभोर हो जाता है। सूरदास कृष्ण के प्रत्येक रूप पर रीझ उठते हैं—"मैया, कब बढ़िहै मेरी चोटी।" और "मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो" में वात्सल्य रस ही साकार हो गया है। संयोग के अतिरिक्त वियोग, शृङ्गार सूर ने नारी का हृदय ही खोल रखा है। गोपिकाओं के विरह निवेदन में कवि ने वेदनानुभूति की चरम परिणति प्रस्तुत की है। भ्रमरगीत में वियोग का सागर हिलोरें ले रहा है। विरह-वेदना में गोपिकाओं की अनुभूति की सचाई और तीव्रता से एक बार ज्ञानी ब्रह्मवादी उद्धव भी काँप उठे। विरह में तृण तृण कर गलते हुए गोपियाँ पपीहे को, जो सदा अपने प्रियतम के साथ रहता है, आशीर्वाद दे रही हैं—

बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे।

राम काव्य में नैतिक बन्धनों के कारण गीतिकाव्य में तीव्र मार्मिकता न आ पाई। सूर की तन्मयता और माधुर्य तुलसी की कवितावली और विनय-पत्रिका में करुणा और विनय भावना का स्वरूप ग्रहण करते हैं। तुलसी भक्ति भावना में बहते हैं, किन्तु उन्हें सदा मर्यादा का ध्यान रहता है। आत्म निवेदन में भी सदा तुलसी के सामने राम का लोक रञ्जनकारी स्वरूप और मर्यादा का लोक पक्ष सम्मुख रहता है। उनकी भावुकता पर सदा दास्य भावना का नियन्त्रण रहता है। यही कारण है कि तुलसी के गीतों में ऐकान्तिकता नहीं आ पाई है। फिर भी उनकी विनय-पत्रिका में आत्म निवेदन की तीव्रता हृदय-द्रावक है। भगवान की दयालुता, करुणा सर्व सम्पन्नता के साथ-साथ अपनी दीनता, हीनता, तुच्छता आदि की व्यंजना भली भाँति की है—

माधव जू, मो सम मन्द न कोउ!

रीतिकाल में काव्य का स्वरूप अपने पूर्ववर्ती काल से विपरीत दशा में मिलता है। इस काल का सारा काव्य सवैया, कवित्त, दोहा आदि रूढ़ छन्दों में बँधा हुआ है। चमत्कार चातुर्य, अलंकरणाधिक्य, बुद्धि की कलाबाजी, और अवसरोपयुक्त उक्ति वैचित्र्य

के कारण इस काल में अधिकांश मुक्तक काव्य का ही प्रणयन हुआ। गीति-काव्य की रचना के लिए जिस वेदनामय हृदय की आवश्यकता है, वह यहां नहीं है। इस प्रकार गीति काव्य की परम्परागत मन्थरगति में एक अवरोध उपस्थित हुआ।

रीतिकाल के अनन्तर आधुनिक काल का प्रथम चरण उपस्थित हुआ। अवनत गीति काव्य को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी मौलिक प्रतिभा से उठा लिया। भक्तिकालीन कवियों का कुछ-कुछ अनुकरण करते हुए भारतेन्दु ने राधा कृष्ण की भक्ति में तथा प्रेमभावना में जो पद और गीत गाये उनमें भक्तिकालीन कवियों की तन्मयता, विरह वेदना, आत्म निवेदन और आत्म समर्पण आदि की भावना तीव्र रूप से अनुभूतिपरक हो गई है। स्वयं राधारानी के चाकर होने के कारण उनके गीतों में अत्यन्त मधुर अभिव्यंजना आ गई है। चन्द्रावली में तन्मयता से आसिक्त अनेक गीतों के दर्शन होते हैं।

भारतेन्दुकाल के अनन्तर द्विवेदीकाल आता है। इस काल में गीति-काव्य का पूर्ण विकास आदर्शवादिता के कारण न हो सका। देश प्रेम, नीति, आचार, इति वृत्तात्मकता और भाषा परिष्करण के कारण काव्य में स्वच्छन्दता उन्मुक्तता और मुखरता न आने पाई। काव्य शील-संकोच आचार-विचारों से आवृत्त हो गया। कवि की दृष्टि अपने में सीमित हो गई। उसका कण्ठ कुण्ठित हो गया। काव्य में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि ने स्थान पा लिया। समाज सेवा, समाज सुधार, पुरातन का प्रेम आदि भावनाओं से इस काल में प्रचुर काव्य लिखा गया। स्वयं द्विवेदीजी की 'विधि विडम्बना' नाथूराम शंकर शर्मा की 'पंच पुकार' गया प्रसाद शुक्ल स्नेही के—'अहिंसा संग्राम', कविराज के 'संबोधन' मैथिलीशरण गुप्त के—'सुकवि कीर्तन' 'स्वर्ण सहोदरों' 'स्वर्ण संगीत' आदि अनेक कविताएँ इस काल के गीतों की ओर संकेत करती हैं। किन्तु विषय की एकरूपता, अभिव्यक्ति की स्थूलता, वर्णनात्मकता और भाषा रुक्षता के कारण इनमें गीतिमय भावार्द्रता और व्यंजकता नहीं है। अतः इनको गीति काव्य नहीं कहा जा सकता।

द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया में आगे चलकर छाया वाद, रहस्यवाद का आगमन हुआ। यद्यपि गीतिकाव्य की सूक्ष्म धारा जैसा कि उन पर प्रदर्शित है, हिन्दी साहित्य के प्रथम प्रभात से ही प्रवाहित है, तथापि गीति काव्य का मुखरित रूप छायावादी युग से ही दृष्टिगत होता है। इस मुखरता का, निःसन्देह रूप से, प्रधान कारण हिन्दी काव्य पर पाश्चात्य काव्य-प्रवृत्तियों का प्रभाव ही है। द्विवेदी युगीन साहित्य का झुकाव प्रधानतया अपना देश, अपनी संस्कृति और अपने समाज तक ही सीमित रहा। कवि उन्मुक्त पंछी सा गगन चारी बनकर देश-देश का दाना चुग न सका। किन्तु छायावादी स्वच्छन्दता ने हिन्दी कवियों को बन्धन मुक्त कर दिया। परिणामतः इन कवियों के लिए विदेशी विचार संस्कृति और सभ्यता उतना ही स्वागतेय हुई जितना अपने और अपने देश की संस्कृति और सभ्यता। परिणामतः पाश्चात्य विचारधारा अनवरोधगति से भारतीय काव्य में प्रवेश करती गई। पश्चिम में भी उस समय साहित्य सागर में एक आलोड़न विलोड़न हो रहा था। विचारों की ज्वार भाटाएँ देश-जाति-सभ्यता संस्कृति को पंकिल कर रही थीं। परम्परा और रूढ़ि के विरुद्ध कीट्स, शैली, बायरन ने विद्रोह की पताका उठायी थी। इन सौन्दर्यवादी कवियों में एक ऐसी अतृप्ति और विद्रोह भावना थी कि प्राणों का स्वर निर्झर की भाँति बह निकला। उन्हें संसार में चारों ओर करुणा, सौन्दर्य और रस दिखाई पड़ा। एक क्षण जीवन की भौतिकता को भूलकर वे तन्मय होकर गा उठे। उन्होंने किसी भी वस्तु का बन्धन स्वीकार नहीं किया। भावना का नैसर्गिक प्रवाह अन्तस्तल को छू लेने में सफल हुआ। शैली के लिए 'प्रफुल्लित जीवन के सर्वोत्तम आनन्दपूर्ण क्षेत्र का संग्रह' ही काव्य बन गया। कीट्स ने पशु पक्षी से अपना गान सीखा। बायरन केवल एक आलिंगन की ही कामना से प्रसन्न था। इन सौन्दर्यवादी कवियों ने

अनुभूति की तीव्रता में सौन्दर्य को एक ध्वन्यात्मक स्वरूप प्रदान किया। उनका व्यक्तित्व उनके काव्य में बोल उठा। काव्य में आन्तरिक अभिव्यक्ति को सरस रूप प्राप्त हुआ। गीत को कवियों ने आत्माभिव्यक्ति का एक साधन बना लिया, जिसके द्वारा जड़ चेतन को वे अपना सन्देश देने लगे। एक ओर यदि इन गीतों में अहं की भावना थी, तो दूसरी ओर वे अन्तस्तल से निकलते थे।

इस प्रकार जिस समय भारत में छायावाद प्रारम्भ हो रहा था, उस समय पश्चिम में कवि अन्तर्मुखी शैली के द्वारा अपनी व्यक्तिगत आन्तरिक अनुभूति का प्रकाशन कर चुके थे। उनके काव्य में सुकोमल, मधुर, मार्मिक भावनाओं की अभिव्यंजना हो चुकी थी। उनके गीति-काव्य में अनेक भावनाओं ने स्थान पा लिया था। जैसे धर्म-राष्ट्र प्रणय-शोक गौरव, उत्सव आदि-आदि। उनमें एक साथ दर्शन, रहस्यमयता और तन्मयता का सामंजस्य हो गया था। ये ही सारी बातें थीं, जिनसे छायावाद के स्वच्छन्दतावादी कवियों ने प्रभाव ग्रहण किया। हिन्दी का कवि फिर एक बार गीतिकार हो उठा। एक बार हिन्दी ने भी प्रसाद, निराला, पन्त के रूप में मानो कीट्स, बायरन और शैली को पा लिया। यह कहना उचित नहीं कि छायावाद का गीति काव्य पूर्णतया पश्चिम की देन है। छायावादी कवियों ने मीरा से माधुरी ली, और कबीर से रहस्यवाद लिया। पश्चिम के प्रभाव ने उसे उन्मुक्तता दी। उसने प्रगति दी और नई-नई शैलियाँ दीं। इन नई शैलियों के माध्यम से छायावादी कवियों ने प्रतीकों के द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति की। नारी को उसने अशरीरी सौन्दर्य प्रदान किया। नारी केवल सुन्दरी न रहकर साकार सौन्दर्य हो गई। उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यापक बनाने के लिए प्रकृति का मानवीकरण कर लिया। जड़ता में चेतनता का आरोप किया गया। छायावाद ने गीति शैली के द्वारा ही अपनी स्वच्छन्दता के मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दिया। लय के और छन्द के नवीन प्रयोगों में छायावादियों ने परम्परा के प्रति विद्रोह किया। सच्ची भावना की अनुभूति द्वारा उद्‌भूत लय का स्वर समुच्चय और ध्वनि पाठक में भी उसी भाव के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने में वे सफल हुए। छायावाद की कविता सच्ची भाव सृष्टि का परिणाम है। जिसमें शब्द और अर्थ का, उपमान और प्रतीक के समान, मधुर लय से योग रहता है। भाव और भाषा का तादात्म्य हुआ। अनुभूति और अभिव्यंजना मूर्तिमान होकर शब्द-समूह में नाचने लगे। प्रेम ही कवि प्रसाद के गीतों का सर्वस्व बना।

इस प्रकार प्रसाद के झरना, लहर और आँसू में उत्कृष्ट कोटि के गीतों की रचना हुई है। कामायनी महाकाव्य में भी यत्र-तत्र प्रभावपूर्ण गीतों के दर्शन होते हैं।

अपने नाटकों में भी प्रसाद ने मर्मान्तिक गीतियों का प्रयोग किया है। चन्द्रगुप्त नाटक का यह गीत देखिये—

> हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो,
> मौन बने रहते हो क्यों ?

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला युगान्तर्कारी कवि हैं। उनके गीतों में पौरुष ऊर्जस्विता, अतीन्द्रिय सौन्दर्य और परोक्ष सत्ता का रहस्य छुपा हुआ है। उनके गीत काव्य में मनोरम गतियाँ, स्वरों में आरोह-प्ररोह, गीतिमयता और भावानुरूपता अपनी चरम-सीमा है। उनके इस प्रकार के गीत 'परिमल' और 'गीतिका' में द्रष्टव्य हैं। गीतिका में गीतिकार कहता है—

> मौन रही हार,
> प्रिय पथ पर चलती सब कहते शृंगार
> कण-कण पर कंकण, प्रिय किण-किण रव किंकिणी।
> रणन रणन नूपुर, उर लाज लौट रंकिणी,
> और मुखर पायल स्वर करें, बार-बार
> प्रिय पथपर चलती, सब कहते शृंगार।

इस गीति में पिक की पंचम पुकार ही नहीं, कनेरी सी एक मीठी तान ही नहीं, अपितु सब स्वरों का समारोह है। प्रसाद के अनुसार निराला में

ओज, सौन्दर्य भावना और कोमल कल्पना भी है। 'जूही की कली' में कवि कल्पना की साकारता के साथ ही नारी सौन्दर्य चित्रमय हो उठा है। इसको कवि की अतृप्त वासना का परिणाम भी कह सकते हैं।

पन्त ने अपने कोमल-कान्त-पदावली द्वारा हिन्दी छायावादी काव्य में गीति-काव्य की मनोरम सुर-सरिता बहाई। पन्त की गीतियों में प्रकृति की सुकोमलता, निश्छलता और मोहकता है—

प्रथम रश्मि का आना रंगिन तूने कैसे पहचाना,
कहाँ-कहाँ से बाल विहंगम तू ने सीखा यह गाना ?

× × ×

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले देरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।।

श्री महादेवीजी वर्मा के 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' 'दीपशिखा' गीति संग्रहों में करुणा का सागर हिंडोल रहा है। कवयित्री का व्यक्तित्व साक्षात् दुःख की साकार प्रतिमा है—

मैं नीर भरी दुःख की बदली,
विस्तृत नभ का कोना कोना
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।

श्री विजयबहादुरसिंह राठौर के शब्दों में—"इस प्रकार छायावादी युगीन गीति काव्य में भाव की दृष्टि से आध्यात्मिक मिलन, विरह, संसार की नित्यता, अनित्यता, जीवन-दर्शन, लौकिक-प्रणय, प्रकृति में मानवीय भावों का प्रक्षेपण, दिव्यानुभूति, वैयक्तिक आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, राष्ट्रीयता, निम्न वर्गों के प्रति करुणा आदि की व्यञ्जना हुई है। और कला की दृष्टि से चित्रोपम ध्वन्यात्मक भाषा, स्वच्छन्द छन्द-योजना, सारोपा और साध्यवसना लक्षणा के विस्तार, सुकुमार कल्पना, मूर्त्त का अमूर्त्त और अमूर्त्त का मूर्त्त विधान, विशेषण विपर्यय, समासोक्ति और अर्थान्तरन्यास की शैली जिसकी विशेषता है। छायावादी गीतों में सौन्दर्याकर्षण प्रणय निवेदन, अतृप्ति, वेदनानुभूति, जीवन की मार्मिक व्यञ्जना मिलती है।

छायावाद की गीतियों में ऐसा समन्वित स्वरूप मिलता है कि शृङ्गार-प्रेम-वियोग के अतिरिक्त देश और विश्व की भावनाओं की अभिव्यक्ति भी उनके द्वारा हुई है। हिन्दी काव्य का यह बहुमुखी प्रसार सर्वथा एक नवीन वस्तु है।

इन उपर्युक्त छायावादी प्रतिनिधि कवियों के अतिरिक्त इनके समकालीन अन्य कवियों ने भी सुन्दर-सुन्दर गीत लिखे हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी सुन्दर गीतों का प्रणयन किया है। गीति तत्त्वों से परिपूर्ण उनके गीत—'झङ्कार', 'यशोधरा' और 'साकेत' ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं। साकेत के नवम् सर्ग में उर्मिला का प्रत्येक विरह गान एक गीत है।

स्वजनि रोता है मेरा गान—
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है कोई उसकी तान।

श्री बच्चनजी भी हिन्दी गीति काव्य के कोकिल हैं। उनके 'निशा निमन्त्रण' 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' कविता संग्रहों में अगणित गीति-मालाएँ बिखरी पड़ी हैं।

दुनिया की उपेक्षा से कवि का हृदय दग्ध है। जग की क्रूरता से उन्हें घोर शिकायत है—

आज मुझ से दूर दुनियाँ।
वह समझ मुझ को न पाती
और मेरा दिल जलाती।
है चिता की राख कर में माँगती सिन्दूर दुनियाँ।

श्री रामधारीसिंह दिनकर ने भी सुन्दर-सुन्दर गीत लिखे हैं। 'सामधानी' उनके गीतों का संग्रह है। सामाजिक व्यवस्था से खीज कर कवि कहता है—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर
जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच
जब ब्याज चुकाये जाते हैं।

प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद आता है। प्रयोगवाद ने भी गीति को पनपने का अवसर नहीं दिया।

(शेष पृष्ठ १६० पर)

निराला के 'पवन' की सार्थकता

सुरेन्द्रमोहन करण

'जूही की कली' कविता 'माधुरी' के प्रारम्भिक अङ्कों में प्रकाशित हुई थी। निराला की इस कविता ने हिन्दी साहित्य के प्रकृति-वर्णन को एक नई दिशा प्रदान की। निराला की यह 'जूही की कली' मध्य-कालीन एवं आदिकालीन प्रकृति की भाँति उद्दीपन मात्र नहीं है, किन्तु उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। परन्तु इस लेख का वर्ण्य है 'पवन', जूही की कली नहीं। भौगोलिक सत्य है कि शीतकाल में सागर क्षेत्र का वायु-भार कम हो जाता है एवं उस क्षेत्र की हवा हल्की होकर ऊपर की ओर उठ जाती है फलतः उसके खाली क्षेत्र को भरने हेतु स्थल की ओर से भारी हवाएँ भारत की भौगोलिक बनावट के अनुकूल (भारत के दक्षिण में सागर है) उत्तर से दक्षिण की ओर चलती हैं। परन्तु ग्रीष्म में सूर्य उत्तरायण होता है कर्क रेखा पर उसकी किरणें लम्बवत्-सी पड़ती हैं फलतः स्थल का वायु-भार सागर की अपेक्षा कम हो जाता है और रिक्त स्थान की पूर्ति हेतु हवायें दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित होती हैं। दक्षिण भारत में मलय पर्वत है जिस पर चन्दन के वन हैं एवं पवन को अनिल भी कहा गया है अतः उस ओर से आने के कारण पवन को कवियों ने मलयानिल भी कहा। जूही की लता के पुष्पित होने का समय भी लगभग यही है। सम्भवतः इसी समय पवन के आने एवं पुनर्गमन के काल को वियोग काल कल्पित कर निराला ने दोनों का वियोग वर्णित किया है—

> विरह विधुर प्रिया सङ्ग छोड़
> किसी दूर देश में था पवन।
> जिसे कहते हैं मलयानिल।

तात्पर्य यह कि निराला का यह पवन विरही है। इस प्रसंग को पढ़ते समय सामने अनायास राठौर राज पृथ्वीराज के खण्डकाव्य 'बेलि क्रिसन रुक्मणी री' के वसन्त वर्णन का पवन-प्रसंग चित्रित हो उठता है। पृथ्वीराज का पवन आरम्भ में मदन का दूत है, उसी कामदेव का जिसे त्रिनेत्र पुरारी ने भस्म किया था। वह शिवजी को प्रसन्न करने जा रहा है, उनके क्रोध के भय से उसके पाँव डगमगा रहे थे, चूँकि वह शिवजी के पास 'काम' का दूत बन कर जा रहा था, अतः पुष्पों की गन्ध-भेंट सजाकर (सम्भवतः मलय पर्वत की सुगन्धी), शीतल हो (दूत के लिए आवश्यक है कि वह शान्त एवं धैर्यवान हो) दक्षिण से (हिन्द महासागर से जल-कण लेकर हिमालय की ओर चलता है—जहाँ शिवजी का निवास-स्थल है।) भारतीय वाङ्मय में पवन—मलयानिल को यूँ भी शीतल-मन्द-सुगन्धित कल्पित किया गया है। पृथ्वीराज की पंक्तियाँ—

> सबल जल सभिन्न सुगन्ध भेंट सजि
> डिगमिगि पाउ वाउ क्रोध डर।
> हालियौ मलयाचल हूँत हिमाचल
> कामदूत हर प्रसन्न कर॥

इन अल्पांशों से सम्भवतः यह भी प्रतीत हो सकता है कि 'जूहीं की कली' एवं 'बेलि क्रिसन रुक्मिणी री' के पवन में किसी प्रकार की समानता हो। पर इसके आरम्भिक चित्रण में अन्तर अवश्य है। सम्भवतः इस अन्तर का कारण कवियों का व्यक्तित्व हो। पृथ्वीराज अकबर के दरबार में थे इस कारण कुछ प्रभाव पड़ा हो। 'निराला' स्वाभिमानी थे, उनका

व्यक्तित्व स्वतन्त्र था, अतः उनका पवन भी वैसा ही है। किन्तु पृथ्वीराज भी स्वाभिमानी थे। ये ही वे व्यक्ति थे, जिन्होंने महाराणा प्रताप को अकबर की अधीनता स्वीकार करने से रोकने हेतु उनके पास पत्र लिखा था।

निराला का पवन कामदूत हो, शिव से डरता-डरता भेंट सजाकर नहीं आता है, उसके आने का कारण है, प्रिया-मिलन की स्मृति—

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात;
आई याद कांता की, कम्पित कमनीय गात।

और प्रिया का स्मरण हो आने पर भला प्रियतम से विदेश में कैसे रुका जाय। उसे इतना धैर्य कहाँ कि वह धीरे-धीरे मार्ग में तरु लताओं को देखता आए। वह तो पवन नाम को सार्थक करता कुञ्ज-लता-कुञ्जों को पार करता उस स्थल की ओर चल पड़ता है, जहाँ उसने प्रिया-संग क्रीड़ा की थी।

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन गिरि कानन
कुञ्ज-लता पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ।

ऐसे ही लगभग समान कल्पना पृथ्वीराज ने भी की है—

तरतौ नदी नदी उतरतौ तरि तरि
बेलि बेलि गलि गलै विलग्ग।
दक्षिण हूँत आवतौ उत्तर दिसि
पवन तणा तिणी वहै न पग्ग॥

यहाँ भी पवन नायक रूप में कलित है। वह दक्षिण से उत्तर की ओर धीरे धीरे बढ़ रहा है। प्रत्येक नदी को तैरते, तरु-तरु को लाँघते, लता-लता को गले लगाते, उसके पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं। यों कल्पना कीजिए नदियों के स्पर्श से शीतल, वृक्ष-लताओं के स्पर्श से सुगन्धित होता श्रान्त मन्थर गति से पवन चलायमान हो रहा है। पग आगे नहीं बढ़ने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वह मार्ग में विहार करता चल रहा है। प्रिया जब स्वयं आलिङ्गन पाश में बद्ध होने के लिए आकुल हो, तो हृदयहीन कहलाना किसे रुचिकर लगेगा।

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिल वसनं मुक्तरोधो नितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे: लम्बमानस्य भावी
ज्ञातस्वादो विवृत जघनां को विहातुं समर्थः॥[१]

इस श्लोक में पवन दक्षिण नायक प्रतीत होता है। 'रसमञ्जरी' के अनुसार "सकल नायिका विषयक समसहजानुरागो दक्षिणः" अर्थात् अनेक नायिकाओं में सहज अनुराग रखने वाला नायक दक्षिण नायक है। किन्तु कतिपय विद्वानों ने उसे शठ नायक (गूढ़ विप्रियकृच्छठ—दशरूपक २।७—अपराध कर के प्रिया को मीठी बातें कहकर मनाने वाला शठ नायक है—भले ही अपराध करना वह न छोड़े) माना है। पर वह दक्षिण नायक है, वैसे दक्षिण दिशा से आने वाला भी है—

केवड़ा कुसुम कुन्द तणा केतकी
श्रम सीकर निरझर श्रवति।
ग्राहियो कन्धे गन्ध भार गुरु
गन्ध वाह तिणि मन्द गति॥

केवड़ा, कुन्दादि पुष्पों की सुगन्ध का भार कन्धे पर उठाये, गन्धवाही होने के कारण मन्दगति पवन के श्रम-स्वेद निरझर के जलकण के रूप में गिरने वाला वारि बिन्दु है। गन्धवहन तो उसका सहज स्वभाव है फिर भी स्मरणीय है कि वह शिवजी-हेतु गन्ध की भेंट सजाकर जा रहा है। पवन के लिए 'रस लोभी' विशेषण का प्रयोग किया गया है—कारण कि वह लताओं का सुगन्ध धारण किए है। अन्यत्र विहार करने के कारण रति चिह्न मिटाने हेतु वह रेवा में स्नान भी करता है, परिणामतः शीतल भी है—

लीयै तसु अङ्ग वास रस-लोभी,
रेवा जलि कत सौच रति।
दक्षिणानिल आवतौ उत्तर दिसी
सापराध पति जिमि सरति॥

× × ×

पुहुपवती लता न परस पमूं के
देतौ अंग आलिंगन दान।
मतवालौ पय ठाइ न मंडै
पवन वमन करतौ मधुपान॥

[१] कालिदास—पूर्व मेघ।

पवन पुष्पवती लताओं का स्पर्श करते—जो ऋतुमती स्त्रियों के समान हैं, जिनका स्पर्श वर्जित है—आलिंगन दान देते, मधुपान (पराग गंध वहन) करते अपने आपको संभालता चल रहा है, पर मदोन्मत्तता के कारण वह होश में नहीं है। संभवतः इसी कारण पुष्पवती (ऋतुमती) लताओं (नायिकाओं) का भी आलिंगन करता चल रहा है। काव्य रसिकों एवं दूर की सूझ खोजने वालों को यह अंश प्रभावित करेगा। कुमार सम्भव (कालिदास) में भी मधुपान का चित्रण है।[१]

निराला का पवन अनुकूल नायक है—("अनुकूले त्वेक नायिकः" अर्थात् एक पत्नीव्रत नायक अनुकूल नायक है।) प्रिया का स्मरण आने पर वह 'उपवन-सर-सरित गहन गिरि कानन कुञ्जलता पुञ्जों को पार करता हुआ प्रिया समीप पहुँचता है। पर प्रिया प्रिय-स्वप्न मग्न थी, प्रिय का आगमन भला वह कैसे जानती। ऐसा प्रतीत होता है कि वह दबे पाँव आया हो। प्रिया को जगाने हेतु, उसे कपोलों पर चुम्बन अङ्कित करने पड़े—

नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी को लड़ी हिंडोल

सम्भवतः प्रिया ने इसे स्वप्न में हुआ चुम्बन समझा और जगी नहीं। प्रिय भला इसे कैसे सहन करता कि प्रिया जगे नहीं। जिसके हेतु वह विघ्न-बाधाओं को पार कर आया हो वह उसका स्वागत तक न करे। उसके पास एक मात्र उपाय रह गया और वह यह कि अपनी पौरुषिक निर्दयता का प्रदर्शन करे अन्यथा प्रिय-स्वप्न मग्न प्रिया स्त्रियोचित कोमलता से जागने से रही और फिर यही होता भी है

निपट निठुराई की
कि झोंकों की झाड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झक झोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल।

और उसका मनोरथ सिद्ध हो गया क्योंकि प्रिया न केवल जगी वरन्—

नम्र मुख हँसी-खिली खेल रंग प्यारे संग।

[१] "मधु द्विरिफः कुसमैक पात्रे पपौ प्रियायामनुवर्तमानः।"

निराला ने वर्णन एकरूपता आद्यन्त बनाये रखी है। 'जूही की कली' की आद्यन्त एकरूपता उसकी विशेषताओं में से एक है। सभी कवियों से इसका निर्वहण संभव नहीं होता। पृथ्वीराज का पवन दोहले २५८ से २६२ तक अपने मानवीय रूप में हमारे सामने आता है—भले ही उसके कार्य एवं भेष भिन्न हैं। पर वर्णन के अन्तिम दोहले में पृथ्वीराज ने मानवीकरण से 'गजीकरण' कर दिया। कवि के समय सिद्ध उपमानों का लोभ न सवार सकने के कारण ही यहाँ एकरूपता भंग हुई। पवन की मन्द गति, धूसरित वदन (पराग युक्त है एवं पराग को धूलि भी कहा जाता है) के लिए गज उपमान तो ठीक है पर कहाँ मानव एवं कहाँ गज। निराला एवं पृथ्वीराज में यही अन्तर है। यों भी कहा जा सकता है कि यह आधुनिक काल एवं मध्यकाल का अन्तर है।

तोय झरणि छंटि ऊवसत मलय तरि
अति पराग रज धूसर अंग।
मधु मद श्रवति मन्द गति मल्हपति
मदनोमत्त मारुत मातंग॥

निराला के पवन के विशेषण 'विधुर', 'निर्दय' आदि हैं। वह भारवाही नहीं। पृथ्वीराज का पवन विशेषणों से बोझिल है—सभिन्न गंधवाह, रसलोभी, मतवाले आदि विशेषणों का प्रयोग उसके हेतु हुआ है। अलङ्कारों में समुच्चय, समासोक्ति, परिकर, रूपक, हेतूत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष आदि की सहायता पृथ्वीराज ने ली है, जबकि निराला ने मात्र समासोक्ति, अनुप्रास, रूपक और मानवीकरण का।

निराला की भाषा खड़ी बोली है, उसमें तत्सम शब्दावली की अधिकता तो है ही, सामासिक पदों का प्रयोग भी माधुर्य गुण के साथ विशेषता उत्पन्न करने में सहायक है। पृथ्वीराज में भी तत्सम शब्दावली की अधिकता है, परन्तु तद्भव शब्दों का प्रयोग भी है। भाषा राजस्थानी है। मध्यकालीन सामन्ती वृत्ति, अनेक नायिकाओं का बोध पृथ्वीराज के काव्य से भली भाँति हो जाता है। लगभग ४०० वर्ष का अन्तर निराला एवं पृथ्वीराज में है, पर वर्णन में कहीं-कहीं आश्चर्यजनक समानता पाठकों का ध्यान अपनी ओर सहज ही आकृष्ट करने वाली है।

—क्लब रोड औरंगाबाद, गया, बिहार।

दिनकर और रश्मिरथी

● के० सत्यनारायण

डा० रामधारीसिंह दिनकर, हिन्दी संसार में, ओजस्वी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे कोमल मधुर भाव के भी सफल गायक हैं। 'रश्मिरथी' में कवि के इन दोनों रूपों का गंगा-जमुना का संगम है। 'रश्मिरथी' काव्य रचने की प्रेरणा कवि को कहां से मिली, इसका संकेत कर्ण के इस कथन में मुखरित है—

"मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न बोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
मन में लिये उमंग जिन्हें चिरकाल कल्पना होगा।।"

यही पद्य कवि ने भी अपनी भूमिका में काव्य-रचना की मूल प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत किया है। इससे विदित होता है कि जाति और कुल के नाम से जो वर्ग पद-दलित है उसके पक्ष की वकालत करने के प्रयत्न में 'रश्मिरथी' नामक काव्य की रचना हुई।

'रश्मिरथी' दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' काव्य के बाद की रचना है। पर 'कुरुक्षेत्र' की प्रेरणा और 'रश्मिरथी' की प्रेरणा एक सी ही दिखाई देती है। यद्यपि रचना की भूमिका में ऐसा संकेत नहीं है। द्वितीय महायुद्ध के बाद युद्ध के विनाशकारी रुप का परिचय करीब-करीब समस्त संसार को मिला। युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त मानव कैसे मुक्त हो, इसके समाधान के प्रयत्न में 'कुरुक्षेत्र' काव्य निकल पड़ा। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ऐसे युद्ध का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं जो अन्याय के विरोध में उमड़ उठा। ऐसा युद्ध जो अन्याय और अनीति के अन्त के लिए ठना है, वह न पाप-पंकिल है, न अशुद्ध है। 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध का पुनीत रूप मानों अनावृत हुआ—

"पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खंग
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रांति है।"

× × ×

किसने कहा पाप है समुचित
स्वत्व प्राप्ति हित लड़ना ?
उठा न्याय का खड्ग समर में
अभय मारना मरना ?"

इससे सिद्ध होता है कि 'कुरुक्षेत्र' तक कवि 'न्योयोचित' हिंसा के समर्थक रहे। यदि साध्य पुनीत है, तो उसकी प्राप्ति के हेतु अपनाये जाने वाले सब प्रकार के साधन (अच्छे बुरे दोनों) पुनीत हैं और वे End justifies the means वाले मार्क्स के सिद्धान्त के पोषक रहे। किन्तु 'रश्मिरथी' में पहुँचते-पहुँचते उनके विचारों में और एक मोड़ आया। लक्ष्य या साध्य का पुनीत होना ही काफी नहीं है। लक्ष्य-सिद्ध के हेतु, जो साधन अपनाये जाते हैं, वे भी पुनीत हों। तभी मानव का मार्ग ऋजु समझा जाता है। यहां पर दिनकर के विचारों पर गांधीजी की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। जब तक मानव की दृष्टि केवल लक्ष्य पर केन्द्रित रहती है और जब तक मानव एन केन प्रकारेण लक्ष्य-प्राप्ति के लिये कटि-बद्ध रहता है, तब तक वह सब प्रकार के अनमोल गुणों को भी होम करने में आगा-पीछा नहीं करता—

"साधन को भूल सिद्धि पर जब
टकटकी हमारी रहती है।

फिर विजय छोड़ भावना और
कोई न हृदय में जगती है ।।
तब जो भी आते विघ्न रूप
हो धर्म शील, या सदाचार
एक ही सदृश हम करते हैं
सब के सिर पर पद-प्रहार ।''

यही भाव सियारामशरण गुप्त के 'उन्मुक्त' नामक काव्य में यों अभिव्यक्त है—

"हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल
जो सब का है, वही हमारा भी मंगल
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर
हिंसा का है, एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर ।

यह गांधीजी के अहिंसा सिद्धान्त का अविकल रूपान्तर मात्र है ।

'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने युद्ध-समस्या का समाधान युद्ध के द्वारा ही करना चाहा है तो 'रश्मिरथी' में दिनकर इस समस्या का समाधान सदाचार के द्वारा अथवा पुनीत साधनों द्वारा करना चाहते हैं । कवि की ये दोनों काव्य-कृतियाँ एक प्रकार से चिन्ता प्रधान हैं । चिन्ता प्रधान कविता और नवीन बौद्धिक कविता में एक स्पष्ट अन्तर यह है कि उसमें मस्तिष्क हृदय के स्तर पर चढ़कर बोलता है । अर्थात् उसमें मस्तिष्क के विचार और तर्क-वितर्क, भावना का आश्रय लेकर व्यक्त होते हैं और इसमें हृदय की भावना विचार और तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर व्यक्त होते हैं । पहले प्रकार की कविता में प्रेषणीय विचार और भावना माध्यम है और दूसरी में प्रेषणीय भावना है और विचार माध्यम है । इसीलिए अपने सहज रूप में पहले की अपेक्षा, दूसरे में काव्य तत्व की प्रचुरता से सम्पन्न काव्य है 'रश्मिरथी' ।

'रश्मिरथी' की कथा वस्तु महर्षि व्यास के महाभारत से ली गई है । किन्तु महाभारत में कर्ण का प्रसंग जिस रूप में है, ठीक उसी रूप में कर्ण का चित्रांकन 'रश्मिरथी' काव्य में नहीं हुआ । पौराणिक काव्य-रचना में कवि ने कल्पना का सहारा भी कम नहीं लिया है । जाति और कुल के भेद पर, कवि ने अपनी तरफ से काफी व्याख्या जोड़ी है । यह सारी व्याख्या आधुनिक काल के भावों का प्रतिफलन मात्र है । इसीलिए कहा जाता है कि कवि चाहे किसी भी युग की वस्तु को लेकर काव्य रचना करे, पर वह अपने को अपने युग से बिलकुल विच्छिन्न नहीं कर सकता । कर्ण जैसे पात्र के मुँह से बात-बात पर, जाति और कुल की दुहाई दिलवाना कहाँ तक संगत है, यह दूसरी बात है ।

कवि ने कर्ण-चरित्र के कुछ इने-गिने प्रसंगों को ही अपनी काव्य रचना के लिये उपादेय के रूप में ग्रहण किया है । इसमें कर्ण का समग्र जीवन भी ग्रहीत नहीं हुआ और महाभारत की उस प्रधान घटना को जो पांडव-वनवास से सम्बन्ध रखती है और जिसमें कर्ण सहित दुर्योधन, दुःशासन आदि यक्षों के द्वारा पकड़े गये, जबकि उनका उद्धार युधिष्ठिर के कहने पर अर्जुन के द्वारा हुआ, 'रश्मिरथी' में स्थान नहीं मिला है । कवि दिनकर तो महारथी कर्ण की अजेय वीरता का गायन करने निकले । दूसरे, कर्ण केवल युद्ध-वीर ही नहीं रहे होंगे । वे भी मानव थे । उनके भी मानवोचित कोमल पहलू अवश्य थे । महाभारत में कर्ण को ब्रह्मचारी नहीं कहा गया है, बल्कि यह भी कहा गया है कि उनके सन्तान या सन्तानें भी थीं । महारथी कर्ण के रसिक हृदय तथा सन्तान-वत्सलता का रूप भी 'रश्मिरथी' काव्य में स्थान नहीं पा सका । इसमें कर्ण का वीर पौरुष का रूप ही स्थान पाये हुये हैं । अतएव 'रश्मिरथी' महाकाव्य नहीं कहा कहा जा सकता और यह खण्डकाव्य ही है ।

'रश्मिरथी' एक प्रबन्धकाव्य है । जैसे दिनकर ने स्वयं कहा । प्रबन्धकाव्य में जैसे गुण-दोषों का प्रायः संगम होता है, वैसे ही 'रश्मिरथी' में भी है । कवि ने महारथी कर्ण की 'बेजोड़' शूरता का उत्कृष्ट शैली में वर्णन करना चाहा । इसके लिये उन्होंने आवश्यक घटनाओं का चयन किया और कर्ण के जीवन के मर्म-स्थलों को पहचाना । कर्ण में दो गुण प्रधान रूप से दिखाई देते हैं । दिनकर ने कर्ण के दानशील रूप को भी, उनकी दर्प भरी शूरवीरता के उद्दीपन के रूप में

ही ग्रहण किया है। इस तरह चुने हुए मर्म-स्थलों के बीच में तारतम्य स्थापित करने के लिए कवि ने कोमल कल्पना का सहारा भी लिया है। इतना होने पर भी जैसे कवि ने स्वयं अपनी भूमिका में स्वीकारा है कि उन्हें काव्य-रचना करते समय लेखनी को बायें हाथ से दाहिने हाथ में, फिर दाहिने हाथ से बायें हाथ में कई बार बदलना पड़ा। फलतः रमणीय स्थलों से अलग होकर विच्छिन्न रूप में ही कवि के विचार-वर्णन बिखरे हुए हैं।

प्रबन्ध-काव्य में पात्रों का सहारा लिये कथानक बढ़ता है। अतएव प्रबन्ध-काव्य में पात्र-चित्रण प्रमुख स्थान रखता है। रश्मिरथी में कर्ण बहुत ही आदर्श रूप में चित्रित है। वे एक तेजस्वी, वीर सेनानी, उदार-चेता-दानी, सन्मार्गी और धर्म-परायण, कर्मठ व्यक्ति थे। कर्ण के ये सभी गुण रश्मिरथी काव्य में पराकाष्ठा को पहुँचाये गये। कर्ण का चित्र आंकते समय यह कभी भूलना नहीं चाहिए कि ये एक पौराणिक पात्र हैं। उनके मुँह से कोई ऐसी बात कहलाना जो उस युग के लिये अनुपयुक्त है, वह शुक्लजी की भाषा में 'अनाड़ीपन' है। समाज तथा जाति-व्यवस्था के जो चिह्न आधुनिक युग में दिखाई देते हैं और जिनके विरोध में नारे पर नारे दिन-पर-दिन बुलन्द होते जा रहे हैं, उनकी ओर कर्ण जैसे पौराणिक पात्र का उँगली दिखाना कहाँ तक संगत है।

अपनी जननी कुन्ती से साक्षात्कार होने पर कर्ण ने तरह-तरह के प्रवचन दिये। धर्म-निष्ठ कर्ण के द्वारा वृद्धा माता को ऐसे प्रवचन स्तुत्य नहीं हैं। कर्ण वीर तो सही, मानी तो सही, पर उनका प्रचण्ड मार्तण्ड रूप युद्ध-क्षेत्र में ही दिखाई देता है। अन्य सन्दर्भों में तो वे स्नेह-स्निग्ध सौम्य मुख ही नजर आते हैं। ऐसी स्थिति में कर्ण का, तरह-तरह के आरोपों द्वारा माता कुन्ती की भर्त्सना करना किसी भी तरह समर्थनीय नहीं हो सकता।

कर्ण-कुन्ती प्रसंग लेकर यशस्वी कवि रविबाबू ने भी लिखा है। रवीन्द्र का कर्ण-कुन्ती संवाद अत्यन्त सौम्य एवं मर्यादित है। कहीं भी पात्र के व्यक्तित्व के प्रतिकूल कोई उद्गार नहीं निकल पाया। साक्षात्कार के उपरान्त, बिदा लेते हुए, कर्ण अपनी माता से यह आशीर्वाद पाने की याचना करते हैं—

"मुझे बस देती जाओ, आज यही आशीर्वाद
जय-लोभ, यशो-लोभ, राज्य-लोभ हेतु कहीं
वीर की सद्गति से, हे माता ! भ्रष्ट होऊँ नहीं"
(कर्ण-कुन्ती संवाद—रवीन्द्र)।

कर्ण को एक आदर्श मित्र के रूप में, तथा तेजोमय सखा के रूप में चित्रित किया गया है, और इस रूप का, कर्ण ने अपना सब कुछ निछावर कर निर्वाह किया। उनके इस रूप की प्रशस्ति में स्वयं कृष्ण ने यह कहा—

"बोले कि वीर शतबार धन्य
तुझ सा न मित्र कोई अनन्य
तू कुरुपति का ही नहीं प्राण
नरता का है भूषण महान्।"

कृष्ण की इस प्रशस्ति का अनुमोदन भीष्म ने यह कह कर किया—

"अर्जुन को मिले कृष्ण जैसे
तुम मिले कौरवों को वैसे।"

कवि दिनकर में प्रबन्ध-पटुता पर्याप्त मात्रा में है। इस पटुता के द्वारा समर्थ कवि आगामी घटनाओं का चपल संकेत करते हैं। रंगभूमि में गुरु द्रोण के इस नाटकीय संकेत का अर्थ, एक ओर यह होता है कि गुरु महोदय कर्ण को शिष्य के रूप में न ग्रहण कर अर्जुन को आश्वस्त करना चाहते हैं और दूसरी ओर यह इंगित किया गया कि महत्वाकांक्षी कर्ण अभी उद्दण्ड किशोरमात्र हैं। वे विद्याभ्यास के लिए परशुराम सरीखे गुरू की सेवा में जायेंगे। द्रोणाचार्य का वक्र कथन यह है—

"सोच रहा हूँ, क्या सलूक, मैं इसके साथ करूंगा।
इस प्रचंडतम धूमकेतु का कैसे तेज हरूंगा?
शिष्य बनाऊँगा न कर्ण को यह निश्चित है बात
रखना ध्यान विकट प्रतिभट का, पर तू भी हे तात!"

शापग्रस्त होने पर, कर्ण को गिड़गिड़ाते हुए देख कर, परशुराम कहते हैं :—

परशुराम ने कहा—"कर्ण ! यह शाप अटल है,
सहन करो जो कुछ मैंने कहा उसे
सिर पर लो सादर वहन करो।
इस महेन्द्रगिरि पर तुमने कुछ
थोड़ा ही नहीं कमाया है
मेरा संचित निखिल ज्ञान
तूने मुझ से ही पाया है।"

परशुराम के इस कथन के द्वारा कवि ने युद्धभूमि के कर्ण के उस प्रचण्ड मार्तण्ड रूप की ओर इंगित किया है, जो रूप कवच-कुण्डल से अलग होने के बाद कर्ण का उभर उठा।

कवि ने परशुराम के चित्रांकन में भी अपनी सूझ-बूझ से काम लिया है। परशुराम अब तक पाषाण-हृदयी युद्धवीर के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। ऐसी प्रस्तर कर्कशता के अन्तर में कोमलता की कल्लोलित शीतल निर्झरिणी है, इसकी झाँकी दिनकर ने बहुत ही मर्म स्पर्शी शैली में की है। प्रवञ्चक शिष्य कर्ण, कार्तवीर्य विजेता, यशस्वी धनुर्धर परशुराम के लिए गुरु द्रोणाचार्य से भी बढ़कर प्यारे शिष्य रहे। ऐसा प्रियतम शिष्य के बिछोह से कठोर-हृदयी परशुराम का हृदय कैसे करुणा-कलित रहा, इसका तरल रूप सचमुच देखने लायक है—

"व्रत का, पर, निर्वाह कभी ऐसे भी करता होता है,
इस कर से जो किया, उसे उस कर से करना होता है।
अब जाओ तुम कर्ण ! कृपा करके मुझको निस्संग करो,
देखो मत यों सजल दृष्टि से, व्रत मेरा मत भंग करो।"

'रश्मिरथी' काव्य में बहुत ही रमणीय शब्द-चित्र विकीर्ण हैं। संयोग से बिछुड़े हुए अपने 'लाल' को अपनी गोदी में लेने को आतुर-कातर जननी कुन्ती के हृदय के विलोड़न तथा अपने तेजस्वी शिष्य-प्रवर कर्ण को निष्कासित करने को बाध्य परशुधर के हृदय-मथन का मधुरांकन कवि की बड़ी विशेषता है, हमेशा हमेशा के लिए बिदा होने वाले गुरु-शिष्य की भाव-भंगिमा का रेखांकन क्या ही सुन्दर बन पड़ा—

"इस प्रकार परशुराम ने फिरा लिया आनन अपना
जहाँ मिला था, वहीं कर्ण का बिखर गया सारा सपना।
छूकर उनका चरण कर्ण ने अर्घ्य-अश्रु का दान किया
और उन्हें जी-भर निहारकर मंद-मंद प्रस्थान किया।"

गुरु परशुराम से शापग्रस्त हो कर बिदा होने वाले कर्ण का यह संकुचित रूप-चित्र देखिए—

"परशुधर के चरण की धूलि ले कर
उन्हें अपने हृदय की भक्ति दे कर,
निराशा से विकल टूटा हुआ सा
किसी गिरि-शृङ्ग से छूटा हुआ सा,
चला खोया हुआ सा कर्ण मन में
कि जैसे चाँद चलता है गगन में।"

युद्ध-क्षेत्र के ओजपूर्ण दृश्यों को पौरुष-दीप्त स्वरों में बाँधने में दिनकर सचमुच अपना सानी नहीं रखते। महारथी कर्ण के स्वैर-विहार के पौरुष-दीप्त स्वरों के गत्वर चित्रों से षष्टम और सप्तम सर्ग भरे हुए हैं। मद-मस्त कुञ्जरों की भाँति तुमुल युद्ध में भिड़े हुए कौंतेय-कर्ण की रूप-व्यंजना :—

"गत्वर, गैरेय सुघर भूधर से
लिये रक्त-रञ्जित शरीर
ये जूझ रहे कौंतेय-कर्ण
क्षण-क्षण करते गर्जन गंभीर
दोनों रण-कुशल, धनुर्धर नर
दोनों समबल, दोनों समर्थ
दोनों पर दोनों की अमोघ
थी विशिखि-वृष्टि हो रही व्यर्थ।"

दिनकर की कला की विशेषता, उसकी सहज सुलभ गति है। 'रश्मिरथी' की काव्य-सामग्री के नियोजन में, शब्द-विन्यास में, छन्द और लय की योजना में, यही कर्ण-प्रिय सहज गति मिलती है। उसमें कहीं भी काट-छाँट, जड़ाव अथवा व्यर्थ आडम्बर का प्रयत्न नहीं है और इसका कारण भी, कवि की सहज सबल अनुभूति है, जो अनायास ही शब्दों में फूट उठती है।

'रश्मिरथी' दिनकर की प्रौढ़ रचनाओं में एक है। उन्होंने इसमें विस्तृत काव्य-सामग्री का अनायास प्रयोग करते हुए कई ओजस्वी एवम् कोमल चित्र सफलतापूर्वक प्रस्तुत किये हैं। कवि दिनकर की यह विशेषता है कि उनको विराट और कोमल दोनों पर समान अधिकार है। विराट और कोमल को ओज-दीप्त स्वरों में बाँधने वाले अमर-शिल्पी प्रसाद और निराला आज नहीं रहे तथापि उनके तेजस्वी एवं मनस्वी उत्तराधिकारी दिनकर से हिन्दी साहित्य आशा पर आशा लगाये हुए है।

—प्राचार्य. हिन्दी पंडित ट्रेनिंग कालेज,
लक्ष्मी वाडप्पू पेठ, राजमुन्द्री १ (आन्ध्र)

कयमास-वध का काव्य-सौष्ठव

● डा० रामरजपाल द्विवेदी

महान् कवि चन्द की विख्यात कृति 'पृथ्वीराज रासो' की लघुतम प्राप्त प्रति सर्गों में विभाजित नहीं है, नामकरण का तो प्रश्न ही नहीं। अन्य प्रतियों में, जैसे सभा की अथवा अनूप संस्कृत-पुस्तकालय की, कथानक-विभाजन 'समय' नाम से किया गया है। सन् १९३६ से, जब से प्रसिद्ध विद्वान मुनि जिन विजयजी ने कुछेक जैन लेखकों के कथा-प्रबन्धों का संग्रह 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' शीर्षक से किया, उन विद्वानों के तरकस रिक्त हो गये जो महाकवि चन्द का अस्तित्व तक स्वीकारने से कतराते थे। और यदि, स्वीकारते भी थे तो आचार्य शुक्ल की भाँति उनके 'रासो' को न तो 'भाषा के इतिहास के और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं के कार्य का"[1] मानते थे। पर रासो में आस्था रखने वाले भी इस बिन्दु पर, कि उसमें कितना वास्तविक है और कितना प्रक्षिप्त, अपने-अपने अलग-अलग तम्बू गाड़ते दिखाई दिये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९५२ में बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् में व्याख्यान देते हुए इस स्थापना पर बल दिया कि कहानी में वक्ता-श्रोता दोनों अनिवार्य हैं। अतः रासो के उन सर्गों को ही प्रामाणिक माना जाना चाहिए जो शुक-शुकी सम्बाद रूप में हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए डा० माताप्रसादजी गुप्त ने उचित तर्क दिया है कि प्रक्षेपकारी शुक-शुकी सम्बाद नाम से भी तो प्रक्षेप कर सकते हैं। ये दोनों विद्वान 'रासो' की अनेकानेक बातों पर मतैक्य न रखते हुए भी कम से कम एक स्थल पर मिल जाते हैं—और वह है कयमास-वध।

[1] हिन्दी साहित्य का इति०, पाँचवाँ सं० पृ० ४४

अनेक स्रोतों से सिद्ध है कि कयमास (कंवास, कदंवास) परम प्रतापी चौहान नरेश पृथ्वीराज के प्रधानामात्य थे—यह बात अलग है कि उनके अन्त विषय में मतैक्य नहीं है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में पृथ्वीराज कयमास पर एक ही बाण छोड़ते हैं और बाद में उसे पदच्युत कर देते हैं जिसके अनन्तर वह पृथ्वीराज-शत्रु शहाबुद्दीन से मिलकर चौहान नरेश का स्वयं अन्त कराते हैं, जबकि 'रासो' (३।११) में एक बाण के लक्ष्य भ्रष्ट हो जाने पर पृथ्वीराज दूसरे बाण से उनका प्राणान्त कर देते हैं।

'रासो' के प्रस्तुत अंक का इतिवृत्त तनिक सा है। संयोगिता के विरह-ताप में अस्थिरमना महाराज पृथ्वीराज का अपने प्रधानामात्य को राज्य की बागडोर सौंप वनगमन, वहाँ दासी द्वारा कयमास-कर्नाटी के अनपेक्षित सम्बन्धों का बोध होना, रात में ही आकर उसे मार एवं गाड़ कर वापस जा प्रातः पुनः राजधानी आना, सभा में पूछे जाने पर चन्द द्वारा स्थिति का स्पष्टीकरण करना, निदान अमात्य के शव को उसकी विधवा पत्नी को सौंपना और बस। महाकवि ने इसे धुन-धुनकर नौ प्रकार के तेंतालीस छन्दों में फैला दिया है। स्थान की इस कोताही में भी हमें चन्द की लगभग उन सभी विशेषताओं की झाँकी प्राप्त हो जाती है जो समूचे ग्रन्थ में प्राप्त है।

काव्य में विस्तृत वर्णन के दो ही रूप हैं—स्वयं कवि द्वारा वस्तु-वर्णन एवं पात्रों द्वारा भाव-व्यंजन। हम डा० जयचन्द्रराय एवं अन्य की इस बात से तो सहमत नहीं कि "काव्य वस्तु-चित्रों के अभाव में टिक ही नहीं पाता"[1] क्योंकि इस निकष पर तो पश्चिम

[1] चन्दवरदाई और उनकी कविता, प्र० सं०, पृ० ६५

का और हिन्दी का भी अत्याधुनिक काव्य बड़ा पोच ठहरेगा। और चाहे जो कुछ हो, पर इतनी बात अवश्य है कि इतिवृत्त का प्रभूत सौरस्य वस्तु-वर्णन के कौशल पर ही निर्भर है। प्रकृति-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नख-शिख-वर्णन आदि नाना प्रकार के वर्णन 'रासो' में प्राप्त हैं। प्रस्तुत अंश में 'कयमास-वध' में—हमें नख-शिख एवं प्रकृति-वर्णन के ही दर्शन होते हैं।

सम्राट् पृथ्वीराज द्वारा कयमास-वध का भेद पट्टराज्ञी के अतिरिक्त अन्य किसी को ज्ञात नहीं था। उसी रात वरदायी[1] चन्द को सरस्वती ने स्वप्न में सब कुछ बता दिया। चन्द का आग्रह उसके प्रत्यक्ष दर्शन का था—

भइ परतव्वि कव्वि मनि आई।३।१६।१

इससे आगे चालीस चरणों में महाकवि ने सरस्वती का नख-शिख वर्णन किया है। उसी छन्द में जिसमें सैकड़ों वर्ष बाद चलकर महाकवि तुलसी के अत्रि मुनि ने भगवान् राम की स्तुति की।[2] चन्द विरद्दिया देवी के मराल एवं वीणा से दीठि फेर कर उनके चिकुरों पर गाड़ देते हैं। उपमान उन्हें परम्परित ही सूझता है, जैसे केश के लिए कुण्डली मारे बैठा सर्प—

उरग्ग बास बिट्ठुरे।३।१७।६

कपोलों का चित्रण निश्चय ही मनमोहक है—मानो प्रातःकालीन चन्द्रमा राहु के कलंक से बचने के लिए अपने मृग रथ के जुए को अति शीघ्रता एवं व्यग्रता से खींच रहे हों—

कपोल रेख गातयो।
उवंत इन्दु प्रातयो॥
बभूव जूव वंचये।
कलक वाह वंचये॥३।१७।९–१०

[1] म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री, अपने प्रारम्भिक खोज रिपोर्ट, परिशिष्ट, पृ० २२ पर इसीलिए 'बरदिया' विशेषण शुद्ध मानते हैं।

[2] रामचरितमानस : अरण्य काण्ड : तीसरे सोरठे के बाद।

कानों के ताटंक अनंग-रथ के चक्र, नयन खंजन से, कीर सी नासिका, दाँत जैसे बीच से फटा हुआ अनार कहे गये हैं। रोमावली के लिए वे एकदम नवीन उत्प्रेक्षा लाते हैं—रेंगती हुई पिपीलिकाएँ—

विविश्च रोम रिथये।
मनु पपील रिंगये॥३।१७।२७–२८

जाँघों एवं नूपुर-ध्वनियों के उपमान वही परिचित कदली-नाल एवं मराल-स्वर हैं। चन्दजी सरस्वती के उन अंगों के वर्णन जान-बूझकर छोड़ देते हैं जिसके कारण, सुनते हैं, कुमार सम्भवकार को बड़ी कड़ी सजा मिली थी।

इस प्रकार चन्द का प्रस्तुत नख-शिख वर्णन परम्परागत होते हुए भी, यदि डा० माताप्रसादजी गुप्त की आँख से देखा जाय तो 'सुन्दर'[1] बन पड़ा है।

सीमित स्थल होते हुए भी कवि प्रकृति को उसका उचित दाद देना नहीं भूला। उद्दीपन के रूप में इसका चित्रण जाने कितना पुराना है। अँधियारी रात बिछी हो, मेघाच्छन्न आकाश हो, सितारे गुमसुम हों, पानी भी थम नहीं रहा हो, ऐसे में कयमास के मनुआ ने उनके बेगुनाह चरणों को करनाट की एक सुरूपा दासी के एकान्त कक्ष की ओर मोड़ दिया हो तो अचरज ही क्या? इसमें दैव की गति हमें तो तनिक भी विचित्र नहीं लगती—

अंधारेन जलेन छिन्न क्षितया तारानि धारा रत।
सा मंत्री कयमास काम अंधा देवी विचित्रा गति॥
३।२।३–४

अगस्त्य नक्षत्र उदय हो गया है। जल, चन्द्रमा एवं कास उज्ज्वल हो गये हैं। ऐसे में विजिगीषु पृथ्वीराज की पराक्रमी जयचन्द को जीतने की इच्छा पैनी हो जाना निसर्ग सिद्धि ही है—

उदय अगस्ति नक्षत्र दिठि उज्ज्वल जल ससि कास।
मोहि चन्द हइ विजय मन············॥३।२११–२

उद्दीपन के अतिरिक्त प्रकृति का यथातथ्य चित्रण भी प्राप्त है—

[1] पृथ्वीराज रासउ, भूमिका, पृ० २०४।

अंबुज बिकस बास अलि आयौ।
सांमि वयनि सुन्दरि समझायौ ॥३।१८।१-२

भारतीय वीर को एक कान से असि की खनक एवं दूसरे से नूपुरों की झंकार सुनने की पुरानी लत है। अतः चन्द के महाकाव्य का अंगी रस वीर है जिसका शृङ्गार प्रमुख अंग बन कर आया है। प्रस्तुत अध्याय 'पृथ्वीराज के क्रोध के फलस्वरूप महामात्य कयमास के वध की कहानी कहता है अतः रौद्र एवं करुण रस प्राप्ति अप्रत्याशित नहीं। कयमास कर्नाटी के पिच्छिल सम्बन्ध सुन जिघांसु महाराज के क्रोध में उफान आना अवश्यम्भावी है। उनके बाण पर हाथ पड़ते ही 'देव नाग नर' दुबक जाते हैं। क्रोध से उन्हें कम्पन हो उठता है जिसके कारण पहला बाण लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है। द्वितीय प्रयास रघुपति के निम्न बाण की भाँति अमोघ सिद्ध होता है—अमात्य का क्षपाकर की भाँति पतन होता है—

बानावर तटकंति घुटित धर धरनि आधारिय ।३।११।४

प्रस्तुत पंक्तियों में पृथ्वीराज आश्रय, कयमास आलम्बन, परमारि द्वारा प्रचारा जाना उद्दीपन, क्रोधातिरेक से पृथ्वीराज के 'मुट्ठि दिट्ठि' का डोल जाना कम्प सात्विक अनुभाव हैं। क्रोध स्थायीभाव तो है ही। इस प्रकार रौद्र रस के समूचे शास्त्रीय अवयव प्राप्त हैं। इस से पूर्व भी रौद्र रस का एक उदाहरण प्राप्त है—जब दासी अटवी में पृथ्वीराज को पट्टमहिषी की पाती बाँचकर सुनाती है।

करुण रस की हलकी सी व्यञ्जना ३३ संख्यक उस कवित्त में है जहाँ अपने पति का क्रूर अन्त सुन कयमास-पत्नी चन्द की अँगुली थाम सम्राट के समीप स्वप्राणेश का शव माँगने जाती है।

पृथ्वीराज की हार्दिक इच्छा है कि कनउज-नरेश परम पराक्रमी, सम्राट् जयचन्द का कम से कम एक बार दर्शन लाभ तो हो ही जाय। इस हेतु वे वरिबंड चन्द से प्रार्थना करते हैं कि उनके साथ ही यह कार्य शक्य है। यदि बात खुल भी गयी तो, पृथ्वीराज का कथन है कि उनकी भुजाएँ पर्याप्त हैं —

जबइ राइ जानइ संमुह हुअ।
तब अंगमउं समर दुहुनि भुअ ।३।३६।३-४

प्रस्तुत पंक्तियों में नायक में उत्साह स्थायी भाव छलका पड़ता है।

भावों एवं विचारों का परिणाम भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत रासो के कुछ अंश पर कार्य किया गया है।[१] इसके अतिरिक्त डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी ने अपने शोध प्रबन्ध में 'रासो की भाषा की कतिपय विशेषताएँ'[२] शीर्षक से अत्यन्त श्रमपूर्वक अभिनव निष्कर्ष निकाले हैं। यह बात दूसरी है कि उन्होंने अपनी बाहों में 'पृथ्वीराज राजो' नाम से प्राप्त सब कुछ समेट लिया है।

रासोकार की शब्द-समस्या बड़ी विशाल है। जिस दिशा से भी उन्हें शब्द प्राप्त हुए हैं, उनका अभिनन्दन किया है। 'षट्भाषा पुरानं च कुरानं च' वाली बात से भाषा की अनाविलता बेदाग नहीं रह पायी है। मुसीबत यह है कि किसी भी शब्द ने यदि रासोकार के समक्ष आँख तरेरी है। तो उन्होंने उसके हाथ-पाँव तोड़कर अपने पूर्ण अनुशासन में ले लिया है। फलतः प्रथम दृष्टि मेंही उन शब्दों की पहचान जरा कठिन हो जाती है। 'कयमास-बध' के ही कुछेक शब्द द्रष्टव्य हैं।

गिम्ह ∠ ग्रीष्म (२६।४)
तित्थ ∠ तीर्थ (४१।३)

इस सूची को यथावांछित प्रलम्बता प्रदान किया जा सकता है। सत्य तो यह है कि कोई लकीर ऐसी नहीं है जिसमें शब्दों के साथ मनमानी नहीं प्राप्त होती, और मनमानी भी मनमानी अर्थात् नियम रहित। यदि एक स्थान पर उन्होंने काव्य का 'कब्ब' (२३।१) किया है तो तनिक ही आगे 'कव्वु' (२६-२)। इस सम्बन्ध में, अतः व्याकरणिक नियमों का विधान करना असम्भव है।

अन्य स्थलों की भाँति यहाँ भी भाषा भावानुसारिणी है। सरस्वती के शिख-नख वर्णन में भाषा का सहज-सरल मधुर रूप अपनाया गया है। १७ वें

१ 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' : नामवरसिंह, सरस्वती प्रेस, बनारस।
२ 'चन्दवरदाई और उनका काव्य', पृ. २८७-३५१

छन्द के कुछेक पद अवलोकनीय हैं :

मराल बाल आसनं ।१।
मयंद केस मुक्करे ।५।
सुबाल कीर सुद्धयो ।१५।
हरंति छब्बि जामिनी ।२६।
सुरंग चंग पिंडुरी ।३५।
कली सु चंपि अंगुरी ।३६। इत्यादि ।

कयमास करनाटी की मिलन-बेला का वातावरण अत्यन्त कोमल शब्दों द्वारा ही चित्रित हुआ है। दूसरी ओर दासी द्वारा अमात्य-दासी के सम्बन्ध सुन पृथ्वीराज के क्रोध में उबाल आया है। रासोकार ने भी व्यंजन-द्वित्त एवं संयुक्ताक्षरों द्वारा उस क्रोध की समर्थ अभिव्यञ्ना की है। ११ वें छन्द की कुछेक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

मुट्ठि दिट्ठि रिसि डुलिग चुक्कि निक्करिग एक सर ।२
बानावरि तटकंति घुटित धर धरनि आधारिय ।४
किय कब्बु सब्बु सरसइ गनित फुणिव कहउ कविचंद तत।५

आगे कयमास भार्या को निहार कर भी पृथ्वीराज क्रोध से दहक उठे हैं। अन्य स्थलों पर भी पौरुष-व्यंजना हेतु यही द्वित्त्व-सिद्धान्त अपनाया गया है। अनावश्यक अनुस्वार-प्रयोग भी प्रस्तुत 'समय' में प्राप्त है—

अग्यानं चहुआन जांन रहियं.........६।४

ऐसे ही दुहुँ (८।३), कहहुँ (२१।२) इत्यादि।

इसी प्रकार प्रयुक्त ३६ मात्रिक एवं ४ वर्णिक छन्दों में सबसे अधिक दोहरा (१८ बार) तथा सबसे न्यून आर्या (१ बार) है। दोहरा तो अपभ्रंश का अपना छन्द है ही अतः रासो में सबसे अधिक स्थान यही घेरे बैठा है।

स्थूल रूप से साटिका केवल कोमल प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है तथा कवित्त[1] परुष प्रसंग में। 'कयमास बध' में भाषा के समान छन्द चयन भी प्रायः भावानुसारी है। सौन्दर्य-चित्रण लघु छन्दों में हुआ है। सत्रहवें छन्द में सरस्वती के रूप-वर्णन के छन्द को पढ़कर लगता है जैसे कोई ठुमक-ठुमक कर चल रहा है। क्रोध की दशा में संयुक्ताक्षरों एवं परुष वर्णोयुक्त कवित्त छन्द खूब फबता है।

अलंकार-प्रयोग अपने प्रकृत रूप में जहाँ काव्य के भाल की परम शोभाकारी बिंदिया होता है वहीं फूहड़ हाथों में पड़कर उसके पैरों की निगड़ भी बन जाता है। सूर जैसे महाकवि में भी कभी-कभी लगता है जैसे अलंकार उनके काव्य के साधारण धर्म न होकर साधन बनकर आये हैं।

आश्रयदाता के परिकीर्तन में लिखित स्तुतिपरक काव्य अनहोनी उत्प्रेक्षाओं, निराधार उपमाओं एवं अभौतिक रूपकों से उपेत हों तो कोई आश्चर्य नहीं। 'पृथ्वीराज रासउ' में ऐसे अनगिनत स्थल हैं जहाँ कवि का कर्म मात्र अनृत की गठरी खोलना रहा है।

सारांश यह कि 'कयमास बध' में अपने न्यूनाधिक परिमाण में चन्द के वे सभी गुण-दोष सम्मिलित हैं जिन पर कर्नल टाड, ग्राउज, हार्नले बुरी तरह फिदा थे एवं ओझाजी तथा शुक्लजी फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे।

—महानन्द मिशन कालेज, गाजियाबाद।

[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि रासो का कवित्त ब्रज० के परिचित कवित्त से एकदम भिन्न है। यह वहाँ का छप्पय है।

सेठ गोविन्ददास के नाटकों पर गांधीवाद का प्रभाव

● डा० रामशंकर सिंह

पाश्चात्य आलोचक डा० लीविस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'न्यू बियरिंग इन इंग्लिश पोइट्री' में एक स्थान पर लिखा है—

"जो साहित्यकार अपने देश के किसी विशेष युग में उस युग के सबसे प्रमुख चेतना-बिन्दु के प्रति जितना सजग रहेगा, वह अपने युग का उतना ही बड़ा कलाकार होगा।"

सेठजी के पौराणिक नाटकों पर गांधीवाद का प्रभाव—नाटकों में पौराणिकता की अपेक्षा बुद्धिवाद एवं आधुनिकता का स्वर प्रमुख है, यही कारण है कि उनके पौराणिक नाटकों पर भी यत्र-तत्र गांधीवाद की छाया दिखाई पड़ती है, यद्यपि पौराणिक काल के वातावरण पर आधुनिक काल की विचारधाराओं को आरोपित करना अधिक संगत नहीं कहा जा सकता। 'कर्ण' में अस्पृश्यता, कुलीन-अकुलीन की भावना का युगानुरूप चित्रण निश्चित रूप से गाँधीवाद का प्रभाव है।

जाति-पाँति, कुलीन वंश परम्परा, मिथ्या कुल-गौरव के बाह्याडम्बर को व्यर्थ सिद्ध करते हुए नाट्यकार ने कर्ण के माध्यम से गांधीवादी विचार अभिव्यक्त किये हैं—

कर्ण—(गर्व से) वर्ण और वंश! माता-पिता का नाम! वर्णों तथा वंशों का द्वन्द्व होना है, या अर्जुन का और मेरा, आचार्य मेरी दृष्टि से तो आप अर्जुन के वर्ण, वंश और माता-पिता का विवरण कर, अर्जुन का उल्टा अपमान कर रहे हैं। उन्हें गर्व होना चाहिए अपना और पौरुष का। जन्म तो दैवाधीन है, आचार्य, हाँ, पौरुष स्वयं के अधीन है। मुझे अपने कुल का परिचय देने की आवश्यकता ही नहीं, वह मेरे हाथ में नहीं। मेरे हाथ में है मेरा पौरुष, तथा मेरा पौरुष ही मेरा सच्चा परिचय है।[1]

ऐतिहासिक नाटकों पर गांधीवादी प्रभाव—ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिकता का बन्धन स्वीकार करने के कारण नाट्यकार की कल्पना अधिक उन्मुक्त नहीं रही है। ऐतिहासिक तथ्यों एवं वातावरण का यथासम्भव निर्वाह करते हुए नाट्यकार ने अवसरानुकूल गांधीवादी विचारधारा व्यक्त की है। इन नाटकों में अभिव्यक्त गांधीवादी विचार यद्यपि समय से कुछ आये जान पड़ते हैं लेकिन उन्हें ऐसे सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है कि वे अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होते।

'कुलीनता' एवं 'शशिगुप्त' नाटक में अभिव्यक्त देश-प्रेम, मातृभूमि की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की रक्षा आदि भावनाएँ युग चेतना का प्रभाव हैं। 'शशिगुप्त' में चन्द्रगुप्त के विवाहोपरान्त उसे छोड़कर जाते चाणक्य का कथन है—

"जिस आश्रम को अब मैं ग्रहण करने जा रहा हूँ उसमें न देश भिन्नता है और न जाति वैषम्य। मेरे लिए अब सारा विश्व एक देश और मानव समाज एक जाति होगा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'सर्वभूत-हितेरतः' ये दो वाक्य मेरे भविष्य से जीवन का पथ-प्रदर्शन करेंगे।"[2]

चाणक्य के उपर्युक्त कथन में चाणक्य की नहीं अपितु गांधी की उदार भावना ध्वनित हो रही है। इसी प्रकार 'कुलीनता' में नायक यदुराय एक स्थल पर कहता है—

"इस क्षमा में भी जो महत्ता है, औदार्य है, वह

[1] कर्ण पृ० ९

[2] शशिगुप्त, पृ० १५८

क्रोध और प्रतिकार में कहाँ ? प्रतिहिंसा हिंसा पर ही आघात कर सकती, उदारता पर नहीं । आज मुझे इसका अनुभव हो रहा है । चाहे यदुराय को इसका अनुभव हुआ हो या न हुआ हो, किन्तु गांधी-युग के लेखक को इसका अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता ।"[1]

'कुलीनता' नाटक में सुरभी पाठक के निम्न कथन में भी गांधीवादी विचारों की झलक देखी जा सकती है—

"पराये राज्य पर आक्रमण कर व्यर्थ के रक्त-पात को मैं वीरता नहीं, नीचता मानता हूँ, पर स्वातन्त्र्य की और सच्चे सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अहिंसा के द्वारा जब तक कोई उपाय संसार में नहीं निकल आता, तब तक हिंसा के भय से देश को पर-तन्त्र और देश-निवासियों को दास नहीं बनाया जा सकता ।"[2]

गांधीवाद के मूल तत्त्व 'अहिंसा' की बड़ी सुन्दर व्याख्या 'अशोक' में हुई है—

"हिंसा से हिंसा की उत्पत्ति होगी और यह हिंसा निरन्तर बढ़ती जायगी । एक दिन ऐसा आयेगा जब इस हिंसा से सारी मानव-संस्कृति, सारी मानव-सभ्यता ही नहीं, मानव का ही नाश हो जायेगा । अतः संसार के कार्यों में, कम से कम सृष्टि की सर्व-श्रेष्ठ रचना इस मानव के कार्यों में हिंसा का मैं कोई स्थान नहीं मानता । अहिंसा और प्रेम से मानव कार्य चलने और निपटने चाहिए ।"[3]

'विजय-बेलि अथवा कुरुष' में गांधीवाद का स्वर अपेक्षाकृत अधिक गुञ्जित है । वास्तव में इसकी नायिका रेणुका नाट्यकार की मानसी सृष्टि है और उसे नाट्यकार ने गांधीवाद का पूरा जामा पहना दिया है । वह विश्व-विजय के आकांक्षी कुरुष के मन में दया, ममता, प्रेम, उदारता, सेवा आदि मानवीय भावनाओं को उद्दीप्त कर विजियों के साथ भी अच्छा व्यवहार करने के लिए विवश कर देती है ।

[1] सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३०८
[2] कुलीनता, पृ० ३४
[3] अशोक, पृ० ५६

गांधीवाद का अधिक स्पष्ट रूप कुरुष के निम्न कथन में दिखाई पड़ता है—

"संसार का आध्यात्मिक और आधिभौतिक कल्याण परस्पर संघर्ष, कलह, युद्ध, विप्लव आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियों में नहीं, वह है प्रेम, और शान्ति और अहिंसात्मक सदाचार में ।"[1]

'कुलीनता', 'सिंहलद्वीप' तथा 'चन्द्रापीड़ और चर्मकार' में चित्रित अस्पृश्यता की समस्या पर गांधी जी के अछूतोद्धार की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है ।

सामाजिक नाटकों पर गांधीवादी प्रभाव—सामाजिक नाटकों में नाट्यकार पर पौराणिकता या ऐतिहासिकता का अंकुश न रहने के कारण वह विचाराभिव्यक्ति के लिए अधिक स्वतन्त्र रहा है । यही कारण है कि इन नाटकों में गांधीवादी विचार अपने प्रबलतम रूप में व्यक्त हुए हैं ।

'विश्व-प्रेम' में विश्व-बन्धुत्व, सच्चा प्रेम, त्याग एवं मानव-कल्याण की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं । सन्यासिनी प्रमोदिनी एवं नायक मोहन गांधीवाद के प्रतिनिधि हैं । सच्चे प्रेम की व्याख्या करती हुई प्रमोदिनी एक स्थल पर कहती है—"प्रेम और लालसा में आकाश-पाताल का अन्तर है । प्रेम में कामना नहीं है, वासना नहीं है । जहाँ कामना नहीं, वासना नहीं, वहीं सुख है । ऐसा सुख केवल प्रेम से उत्पन्न होता है । इस प्रेम का पात्र समस्त विश्व है ।....जहाँ कोई इच्छा हुई, वहाँ प्रेम नहीं रहा, वहाँ लालसा है । कामना और वासना का बन्धन ही पराधीनता है । यह पराधीनता ही दुःख की जड़ है ।"[2]

'प्रकाश' में शोषण, अन्याय और अनाचार के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन का रूप दिखाई पड़ता है तथा 'भूदान-यज्ञ' में गांधीजी के हृदय-परिवर्तन सिद्धान्त की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । जनसमुदाय के समक्ष भाषण करते हुए विनोबाजी का कथन है—

"...मैंने कभी माना ही नहीं कि मार-काट से इस देश की कोई समस्या हल हो सकती है ।"

[1] वही, पृ० १०९, ११०
[2] विश्व-प्रेम, पृष्ठ १९ ।

'सेवा-पथ' पर गांधीवाद का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका नायक दीनानाथ सच्चे अर्थों में गांधीजी का प्रतिरूप है जिसमें त्याग, सेवा, उदारता सहनशीलता, क्षमा, सन्तोष आदि उच्च गुणों का समावेश है। वह अपने शत्रु की रक्षा के लिए स्वयं गोली का शिकार बनकर घायल हो जाता है। गांधीजी के समान उसकी महानता का परिचय पत्नी के साथ उसके संवाद में मिलता है।

"कीर्ति श्रवण की लालसा का स्वार्थ तो कमला, विषय-भोग के स्वार्थ से भी बड़ा है। कई व्यक्ति इसी लिए प्रत्यक्ष में विषयभोग का त्याग कर देते हैं कि उनकी कीर्ति होगी। भीतर ही भीतर वे इन विषयों को भी पूर्ण रूप से नहीं त्यागते। छिपे-छिपे वे उनका उपभोग करते हैं। छिपकर जो कार्य किया जाता है वही पाप है। पाप का यह घड़ा जहाँ फूटा कि ऐसे व्यक्ति पथभ्रष्ट हुए और वह प्रायः फूटता ही है।"[1]

समस्या नाटकों पर गांधीवादी प्रभाव—सामाजिक नाटकों की भाँति सेठजी के समस्या नाटकों पर भी गांधीवाद का व्यापक प्रभाव है। 'त्याग या ग्रहण' में, स्त्री-पुरुषों की समानता एवं त्याग की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इसमें पश्चिम के भोगवाद की तुलना में भारतीय अध्यात्मवाद के त्याग सिद्धान्त को प्रधानता दी गई है। इसका नायक धर्मध्वज गांधीवादी युवक है जो बुराई या पाप से घृणा करता है लेकिन बुराई करने वालों या पापियों से नहीं। वह समाजवादी युवक नीतिराज के सम्पर्क में आई मिस विमला को गर्भिणी-अवस्था में ग्रहण कर अपनी महानता का परिचय देता है। अपने सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए वह समाज की परवाह नहीं करता। उसका स्पष्ट कथन है—

"जिन तत्वों पर मैं विश्वास करता हूँ उन्हें मैं भी राजनीति के सदृश ही समाज के मन की परवाह न कर कार्यरूप में परिणत करना चाहता हूँ।....समाज के प्रचलित सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी तत्व को कार्यरूप में परिणत करने वाले यदि पुरुषार्थी रहे हैं तो वे महापुरुष हो गये हैं। समाज ने उनका पूजन किया है लेकिन यदि वे निर्बल रहे हैं तो समाज ने उन्हें मिट्टी में मिला दिया है और उस मिट्टी पर वह हँसा है।"[1]

'सन्तोष कहाँ' में इसके नायक जीवन में सन्तोषान्वेषी मनसाराम को तब थोड़ी शान्ति मिलती है जब वह अन्तिम अंक में सच्चे अर्थों में समाज-सेवी बनकर अनाथालय, विद्यालय, बाल-भवन, अस्पताल आदि का संचालन करता है।

इससे स्पष्ट है कि नाट्यकार गांधीवाद के अनुसार जीवनयापन में ही सच्चा सुख मानता है।

'दुःख क्यों' में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन का वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इसका नायक यशपाल कीर्ति की लालसा से और अपने प्रतिद्वन्द्वी ब्रह्मदत्त को नीचा दिखाने के उद्देश्य से असहयोग आन्दोलन में वकालत छोड़ता है। इसमें स्वार्थी नेताओं का भंडाफोड़ किया गया है। यशपाल की पत्नी सुखदा गांधीवादी विचारों की युवती है। वह अपने पति के कृत्यों को बुरा समझती है लेकिन पति-सेवा का आदर्श समक्ष रहने के कारण कई बार इस सम्बन्ध में मौन रह जाती है।

'गरीबी या अमीरी' तथा 'महत्व किसे' नाटकों में धन-संग्रह की अपेक्षा सम्पत्ति-त्याग के सिद्धान्त को प्राधान्य मिला है। पहले में अचला द्वारा अतुल सम्पत्ति का त्याग का निरूपण किया गया है, जीवन के अन्तिम दिनों में वह समाज-सेविका का जीवन अंगीकार करती है और इससे उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। दूसरे नाटक 'महत्व किसे' का नायक कर्मचन्द गांधीजी का प्रतिरूप है। वह अपकार का बदला उपकार से चुकाता है तथा अपनी निश्चित मान्यता पत्नी के सामने प्रकट करता है कि "गांधी युग में इस खजाने, इस धन का कोई महत्व नहीं। वह जमाना चला गया, जिसमें धन को महत्व था। इस जमाने में दरिद्र नारायण की महिमा बढ़ेगी। धनवान घृणा की चीज और निर्धन पूजा की वस्तु होंगे।"[2]

[1] वही, पृ० ४६।

[1] त्याग का ग्रहण. पृ० १८।

[2] महत्व किसे, पृष्ठ २१।

सार्वजनिक सेवा-कार्यों के लिए वह लाखों रुपये खर्च कर देता है। उसका जीवनादर्श है—

"महात्मा गांधी के एक तुच्छ अनुयायी की हैसियत से, कांग्रेस के एक तुच्छ स्वयंसेवक के रूप में क्षुधित, दलित, रुग्णों की सेवा।"[१]

सेठजी के प्रतीक नाटक 'नवरस' और नाटकीय संवाद 'विकास' पर भी गांधीवाद का प्रभाव स्पष्ट है। 'नवरस' में गान्धी-दर्शन के आधार पर युद्ध का विवेचन कर उसकी निस्सारता सिद्ध की गई है। 'विकास' में गांधीवाद के प्रति नाट्यकार का आशावादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। वह प्रायः सभी धर्मों की उन्नति एवं पतन के चित्र प्रस्तुत करता है, परन्तु गांधीवाद का केवल उत्थान का चित्र ही दिखाता है।

सेठजी के नाटकों में गांधी-जीवन-दर्शन का व्यावहारिक पक्ष ही मूलतः अभिव्यक्त हुआ है, उसमें अन्तर्दर्शन की अभिव्यक्ति नहीं है।

—१२३/१५ किशनगंज, दिल्ली-७।

---

[१] वही, पृ० ९७।

(शेषांश पृष्ठ १४५ का)

उल्टे उसने गीति शैली और गीति परम्परा पर हमला कर दिया। परिणामतः गीति-धारा उपेक्षित बन गई। प्रयोगवाद की प्रवृत्ति ही कुछ ऐसी है जो प्राचीनता का हर रूप में विरोध करती है। अतः गीति का पूर्व-रूप पूर्णतया उसके लिए अमान्य है लेकिन गीत शैली का विरोध वहाँ नहीं है। गीतों में गीति तत्वों के समावेश के लिए नये-नये भाव नये-नये विचार और नये-नये विषय वस्तु खोजे जा रहे हैं। गीतों की नई-नई शैलियों के प्रयोग भी चल रहे हैं।

प्रयोगवादी गीतकाव्य सचेष्ट काव्य के अन्तर्गत आता है। जिसमें भाषा, भाव व्यञ्जना के नये-नये प्रयोग देखने को मिलते हैं। फलतः वे अभी लोक-मानस की वस्तु नहीं बन पा रहे हैं। प्रयोगवाद के प्रणेता श्री अज्ञेय का एक गीत है—

> दूर वासी मीत मेरे,
> पहुँच क्या तुम तक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे।
> आज कारावास में डर
> तड़प उठा है पिघल कर
> बद्ध सब अरमान मेरे।

प्रथम 'तार सप्तक' द्वितीय 'तार सप्तक' में प्रयोगवाद के आरम्भिक गीतों का संग्रह है। श्री अज्ञेयजी के 'बावरा अहेरी', धर्मवीर भारती के 'ठण्डा लोहा', जगदीश गुप्त के 'नाव के पाँव' और श्री रामधारीसिंह दिनकर के 'नीलकमल' में नितान्त आधुनिक नई कविताओं एवं नये गीतों के रूप देखने को मिलते हैं।

—केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

ठाकुर जगमोहन सिंह का आलोचनात्मक अध्ययन

• डा० रामाभिलाष त्रिपाठी

भारतेन्दु युग में राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्रान्तियाँ अपने उग्ररूप पर थीं। प्राचीनता और नवीनता का संक्रमण काल चल रहा था। विषय, भाषा, शैली, छन्द एवं प्रकृति-चित्रण के मानदण्ड में परिवर्तन हो रहा था। भारतेन्दु युग में पद्य के साथ ही गद्य के क्षेत्र में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, जीवनी एवं डायरी आदि विविध-विधाएँ प्रचलित हो गई थीं। इनमें कहानी के अतिरिक सम्पूर्ण विधाओं पर ठाकुर साहब ने अपनी लेखनी चलाई है। इस दिशा में उनका कार्य महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु-युगीन नव-चेतना के जागरण में अनेक साहित्यकारों ने योग दिया। ठाकुर साहब ने भी भारत-महिमा वर्णन कर देश-प्रेम का, गोड़-जाति प्रथा, प्रलय, स्वतंत्र लेख आदि लिखकर सांस्कृतिक भावों का यथातथ्य चित्रण कर तत्कालीन नव-चेतना के जागरण में सहयोग दिया।

भारतेन्दु युग में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियां भी विकसित हो रही थीं। हिन्दी साहित्य के प्रमुख इतिहासकारों ने यद्यपि पं० श्रीधर पाठक को हिन्दी का प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि स्वीकार किया है तथापि तथ्य यह है कि ठाकुर साहब में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियां पूर्णतः विद्यमान थीं, ठाकुर साहब अपने समकालीन कवियों की अपेक्षा प्रकृति और प्रेम-संबंधी विषयों में नवीन एवं मौलिक प्रयोगकर्ता थे अतः हम ठाकुर साहब को प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि मान सकते हैं। भाषा और छन्द की दृष्टि से ठाकुर साहब परम्परावादी कहे जा सकते हैं तथापि प्रकृति सम्बंधी काव्य में उनकी मौलिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ठाकुर साहब पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रकृति के रूप को समझा और पर्वत, झरने, वन, उपवन, नदी, आदि प्रकृति के विभिन्न अङ्गों को भी हर्ष, विषाद, क्रोध आदि भावों से युक्त देखा[1]। ठाकुर साहब का प्रकृति चित्रण हिन्दी साहित्य की अपूर्व देन है जिसका अनुसरण भविष्य में अनेक साहित्यकारों ने किया तथा प्रकृति-चित्रण की एक परिपाटी अपनी चल निकली। इस प्रकार विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से भारतेन्दु-युगीन साहित्य मे ठाकुर साहब का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

ठाकुरसाहब के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अन्तर्बाह्य दोनों ही साक्ष्यों के आधार पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। ठाकुर साहब की दैनन्दिनी एवं उनके काव्य और प्रमाणपत्र, द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ में रायबहादुर हीरालाल लिखित कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह, जबलपुर निवासी श्री रामेश्वरप्रसाद गुरू के संग्रह में सुरक्षित, सोहागपुर निवासी देवीप्रसाद गुप्त का पत्र, श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय लिखित पत्रावली (महाकोशल), ब्रजरत्नदास लिखित भारतेन्दु-मण्डल आदि का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। ठाकुर साहब ने स्वयं अपना तथा अपने परिवार का विस्तृत वृत्त—ऋतुसंहार, देवयानी, प्रेम सम्पत्ति-नाटिका, प्रेमहजारा, आत्मचरितात्मक काव्य आदि में दिया है। ठाकुर साहब के पड़ोसी ठाकुर किशोरसिंह, जो ठाकुर साहब से पूर्णतः परिचित थे, से भी ठाकुर

[1] श्यामास्वप्न, पृ० ४०, (ना० प्र० स०) सं० २०१० वि०।

साहब की काव्य-प्रेरिका श्यामा के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध हुई।

स्वच्छन्दतावाद के प्रथम कवि भारतेन्दु-युग के उत्कृष्ट एवं प्रमुख साहित्यकार ठा० जगमोहनसिंह का जन्म विजयराघवगढ़, जिला जबलपुर में श्रावण शुक्ल १४ सं० १६१४ वि० को हुआ था। जन-जागरण क्रान्ति क उन्नायकों में होने के कारण आपके पिता ठा० सरजूप्रसादसिंह को आत्महत्या कर लेनी पड़ी थी। ठाकुर साहब की आयु ६ वर्ष की होने पर उन्हें भारत-सरकार ने वाराणसी भेज दिया। वहाँ उन्हें वार्ड्स इन्स्टीट्यूट क्वींस कालेज में भरती किया गया। १२ वर्ष वहाँ रह कर उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास तथा आलोचना ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ठाकुर साहब छात्र-जीवन से ही प्रखर बुद्धि एवं प्रतिभाशाली थे। छात्र जीवन से ही साहित्य के प्रति उन्हें अगाध प्रेम था। ठाकुर साहब ने महाकवि कालिदास लिखित ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश आदि का पद्यानुवाद सरल हिन्दी भाषा में किया। यही नहीं, छात्र जीवन से लेकर जीवन-पर्यन्त वे लिखते ही रहे। उन्होंने ६० ग्रन्थों की रचना कर मौलिक तथा अनूदित दोनों प्रकार के साहित्य की अभिवृद्धि की।

जितना सूक्ष्म और आलंकारिक वर्णन ठाकुर साहब ने प्रकृति का किया है उतना उस युग में अन्य किसी साहित्यकार ने नहीं किया। यद्यपि ठाकुरसाहब का गार्हस्थ्य जीवन संघर्षमय रहा है तथापि वे अपने जीवन-पर्यन्त तन-मन-धन से साहित्य की सेवा में तल्लीन रहे। ठाकुर साहब राज-सेवा और साहित्य-सेवा में सर्वदा सजग रहते थे। वे एक आदर्श और कर्तव्यपरायण व्यक्ति थे। परिणामस्वरूप उनका शरीर रुग्ण हो गया था और ४ मार्च सन् १८६६ ई० को उनकी इहलौकिक लीला समाप्त हो गई। किन्तु आजीवन संघर्षरत, उत्कृष्ट साहित्यकार की गाथा उनकी कृतियाँ सदैव गाती रहेंगी।

ठाकुर साहब की मौलिक प्रकाशित तथा अप्रकाशित कृतियों का विवरण इस प्रकार है—प्रकाशित १५, सम्पादित २, अप्रकाशित २५ जिनमें उपन्यास, नाटक, निबन्ध, खण्डकाव्य, यात्रा-विवरण आदि सभी विषयों पर है। आलोचना, जीवनचरित्र तथा पत्र-साहित्य की दिशा में भी उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है। सम्पादन के क्षेत्र में भी उनका कार्य महत्वपूर्ण है। विषय वैविध्य की दृष्टि से ठाकुर साहब का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। 'जब-कभी' नामक ग्रन्थ में ज्योतिष-शास्त्र की विधा पर उन्होंने एक नवीन कीर्तिमान स्थापित किया है। जन्मांग एवं उसका विवरण पद्यमयी भाषा में लिखा गया है। प्रमिताक्षर-दीपिका के आधार पर ठाकुर साहब के विस्तृत छन्द-ज्ञान का पता चलता है। भारतेन्दु-युगीन साहित्यकारों में भारतेन्दु के अतिरिक्त इतनी विविधता अन्य किसी भी साहित्यकार में नहीं पाई जाती। ठाकुर साहब ने अपने ग्रन्थों में संस्कृत, ब्रज और खड़ी बोली का प्रयोग किया है। उन्होंने उर्दू-फारसी की गजलें तो लिखी ही हैं, संस्कृत भाषा की भी गजल लिखी है। इस प्रकार विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से ठाकुर साहब के साहित्य का महत्व है।

यद्यपि ठाकुर साहब ने कोई महाकाव्य नहीं लिखा है पर खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, एवं गीतिकाव्य अधिक मात्रा में लिखे हैं। ठाकुर साहब ने काव्य की अनेक विधाओं के साथ ही प्राचीन और नवीन में सामंजस्य स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया है। ठाकुर साहब के काव्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—प्रेम प्रधान, भक्ति प्रधान, नीति प्रधान, यात्रा विवरण, अध्यात्म विषय, शोक काव्य, जीवनवृत्त सम्बन्धी एवं विविध।

ठाकुर साहब एक अत्यन्त व्यापक दृष्टि सम्पन्न कवि हैं। उन्होंने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। वस्तुतः प्रकृति के पर्यवेक्षण ने उन्हें भावपक्ष की ओर अधिक आकर्षित किया। विशेष रूप से ठाकुर साहब श्रृङ्गार रस के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में सफल हुये हैं। यद्यपि उन्होंने हास्य, करुण, शान्त, भयानक आदि

रसों का भी वर्णन किया है। शृङ्गार रस की व्यंजना के लिये प्रेमरत्नाकर, प्रेमसम्पत्ति लता, प्रेम हजारा, मानस सम्पत्ति, श्यामास्वप्न, श्यामा सरोजिनी, श्यामा लता, पवन दूत, पारावत दूत, जब-कभी आदि ग्रन्थ देखे जा सकते हैं। ठाकुर साहब के प्रत्येक ग्रन्थ में किसी न किसी रूप में शृङ्गार रस अवश्य विद्यमान है। स्फुट रचनाओं में हास्यरस, दम्पत्ति विलास, श्रवणविलाप, कपोतविरहाष्टक, शिला का बन्दी आदि ग्रन्थों में करुणरस, प्रलय में भयानक रस, ओंकार चन्द्रिका, ज्ञान प्रदीपिका, देवयानी आदि में शान्तरस का अवलोकन किया जा सकता है। मानवीकरण का उदाहरण श्यामास्वप्न और मानस सम्पत्ति नामक ग्रन्थों में विशेष रूप से मिलता है।

ठाकुर साहब अधिक आलंकारिक भाषा के पक्ष में नहीं हैं फिर भी यथासाध्य वे शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के प्रयोग में सफल हुये हैं। उनके ग्रन्थों में कहीं-कहीं तो चित्रकाव्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय मिलता है—अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों के साथ ही उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, विशेषोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, स्वभावोक्ति, अन्योक्ति, आदि अर्थालंकारों के प्रयोग में भी ठाकुर साहब पूर्ण सफल हुये हैं। ठाकुर साहब ने हिन्दी भाषा में प्रचलित छन्दों का प्रयोग तो किया ही है, साथ ही संस्कृत वर्णवृत्तों—मालिनी, बसन्ततिलका, भुजगप्रयात, शिखरिणी आदि का प्रयोग कर हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। जिसका अनुसरण आगे चलकर चन्द्रशेखर मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने किया। ठाकुर साहब ने एक और नवीन शैली अपनाई है। हिन्दी छन्दों—कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि को संस्कृत भाषा में प्रयोग किया है।[१] ठाकुर साहब इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए अपितु लोक-प्रचलित—लावनी, कजली, खेमटा, मलार, विमटा आदि छन्दों को साहित्य में स्थान प्रदान किया है।[२]

[१] मानस सम्पत्ति, पृ० २९-३०।
[२] श्यामालता, पद्य १२१, प्रेमहजारा, पद्य ४३।

जिस प्रकार चित्रकार किसी भी चित्र को अपनी सूझ-बूझ के अनुसार तूलिका द्वारा रंग से उसमें स्वरूप तत्त्व का प्रतिष्ठापन कर देता है उसी प्रकार कवि भी रूपरेख, शब्द एवं कौशल के माध्यम से आत्मारूपी अनुभूति को काव्य का रूप प्रदान करता है। प्रत्येक कवि नैसर्गिक प्रतिभा से सम्पन्न होता है और उसमें अभिव्यक्ति कला का उत्कृष्ट रूप भी मिलता है क्योंकि जिस कलाकार में जितनी ही उत्कृष्ट कल्पना या प्रतिभा होगी वह उतने ही रूप में सौन्दर्य विधायक, चमत्कारपूर्ण तथा स्वभावतः ही माधुर्य एवं प्रसादगुण सम्पन्न कृति का निर्माण कर सकेगा। ठा० जगमोहनसिंह ने प्रकृति-चित्रण के आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण आदि रूपों का सूक्ष्म वर्णन तो किया ही है साथ ही उन्होंने ऐतिहासिक चित्रण करके साहित्य एवं इतिहास का समन्वय किया है।[१]

ठाकुर साहब ने काव्यों में वर्ण-विधान, अप्रस्तुत विधान, रूपसाम्य धर्मसाम्य एवं प्रभावसाम्य आदि का भी प्रयोग किया है[२]। इस प्रकार भारतेन्दु युग में अभिव्यंजना-शिल्प का प्रयोग जितने प्रभावशाली रूप में ठाकुर साहब ने किया है उतना उनके समकालीन किसी कवि ने नहीं किया।

ठाकुर साहब ने ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, संस्कृत आदि भाषाओं में साहित्य रचना कर सरस्वती की जो सेवा की है उसका हिन्दी-साहित्य चिरऋणी रहेगा। यही नहीं ठाकुर साहब स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के प्रेरक, प्रकृति के महान पुजारी एवं नवीन शैलियों के जन्मदाता थे। ठाकुर साहब भारतेन्दुयुग के सभी कवियों से आगे थे यहाँ तक कि किन्हीं विषयों में भारतेन्दुजी भी उनसे पीछे रह गये थे।

ठाकुर जगमोहनसिंह का निबन्ध साहित्य एवं गद्य साहित्य भी महत्वपूर्ण है यद्यपि ठाकुर साहब ने अधिक निबन्ध नहीं लिखे क्योंकि काव्य प्रेमी होने के कारण

[१] पारावतदूत-पद्य ७६-७८ तथा ४५-५२
[२] श्यामालता-पद्य १३, प्रेमहजारा, पृ० ७७, पारावतदूत-पद्य ३३, श्यामलता-पद्य ७७

यात्रा वर्णन आदि तक पद्य में ही रचे हैं। फिर भी उनके निबन्धों को सामाजिक, प्रकृति सम्बन्धी, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिप्रधान एवं विषयप्रधान निबन्ध के रूप में विभक्त कर सकेंगे। सामाजिक निबन्ध—गोंड़-जाति-प्रथा में, प्रकृति-सम्बन्धी—श्यामासरोजिनी की भूमिका एवं श्यामास्वप्न में, मनोवैज्ञानिक निबन्ध—स्वतन्त्र लेख, भावात्मक लेख में तथा श्यामलता की भूमिका में, व्यक्तिप्रधान—श्यामासरोजिनी की भूमिका में तथा विषय-प्रधान निबन्ध—प्रलय नामक ग्रन्थ की भूमिका में देखा जा सकता है।

ठाकुर साहब के गद्य एवं निबन्धों की भाषा में तत्सम शब्दों की बहुलता मिलती है क्योंकि प्रकृति-चित्रण करते समय अथवा मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखते समय वे इतने आत्मविभोर हो उठते हैं कि उनकी लेखनी अनायास ही सरस्वती के वरदानस्वरूप चलती हुई दिखाई पड़ती है। अम्बर, इन्दु, इष्ट, गिरीश दर्शन, पटल, पयोद, पाषाण, प्रकाश, मन्त्र, मयंक, शक्ति, शशि आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग स्वाभावतः ही हो गया है। ठाकुर साहब की भाषा में खड़ी बोली एवं अवधी के भी शब्दों का प्राचुर्य है। ठाकुर साहब की भाषा विषयानुगामिनी है। जहाँ प्रकृति वर्णन में सम्मिश्रित वाक्यों के निर्माण में तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा में गाम्भीर्य आगया है वहाँ सामाजिक चित्रण करते समय सरस एवं सरल शब्दावली का प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से उनकी भाषा शैली अनुकरणीय है।

भारतेन्दु-युग के उत्कृष्ट लेखकों में ठाकुर साहब का स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी भाषा बड़ी परिमार्जित एवं संस्कृतगर्भित है और शैली प्रवाहयुक्त तथा गद्य काव्यात्मक। ठाकुर साहब गद्य के क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्द शैली और विचारों की परम्परा के रूप में तथा सजीव प्रकृति चित्रण में हिन्दी साहित्य में अग्रगण्य हैं। ठाकुर साहब की निबन्ध शैली का प्रभाव जयशंकरप्रसाद, सरदार पूर्णसिंह एवं पद्मसिंह शर्मा पर दिखाई पड़ता है। साथ ही यह शैली परवर्ती अन्य निबन्धकारों के लिए प्रेरणाप्रद भी है जिसमें वियोगीहरि, रायकृष्णदास आदि प्रमुख रूप से प्रेरणा प्राप्त कर सके हैं।

ठाकुर साहब मूलतः कवि थे आलोचक नहीं। उन्होंने न तो आलोचना विषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है और न उनके आलोचनात्मक लेख ही प्राप्त होते हैं। तथापि उन्होंने मेघदूत की भूमिका में कुछ समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर उनकी आलोचना पद्धति पर विचार किया जा सकता है। ठाकुर जगमोहनसिंह अलंकारों के उचित प्रयोग को ही स्थान देते थे। उनकी विचारधारा में अलंकारों का प्रयोग बहुत ही सोच-समझ कर करना चाहिए अन्यथा वे साहित्य को कुरूप बना देते हैं। उन्होंने लिखा है—अलंकार का पहिनना कुछ सामान्य काम नहीं, तथापि मूढ़तावश जैसा पट मिला पहिनाया। सत्य तो यह है कि सुन्दरी को भूषण की अपेक्षा नहीं। यदि शीघ्रता अथवा मूढ़ता के कारण भूषण यथास्थान भूषित न किया जाय तो भी बुधजन उसे विभ्रमालंकार कहते हैं।[1]

ठाकुर साहब का ध्यान तुलनात्मक आलोचना की ओर भी गया है। उन्होंने एक ओर संस्कृत के दो कवियों की तुलना की है तो दूसरी ओर फारसी और संस्कृत के समान भाववाले कवियों के अंशों को उद्धृत किया है। साथ ही दो विद्वानों के मतों का उल्लेख कर आलोचना शैली में उद्धरणात्मक शैली को जन्म दिया। जिसका प्रभाव परवर्ती साहित्यकारों पर विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। आज के शोध-प्रधान युग में इस शैली का अत्यधिक प्रचलन है। ठाकुर साहब दोनों मतों को उद्धृत कर उस पर निर्भीकता-पूर्वक अपना निर्णय भी देते थे—ऐसे दोषगुण की समालोचना यवनों के कर्णों को कटु लगेगी पर मैं बिना लिखे न रह सका[2]। इससे सिद्ध होता है कि आलोचक के सभी गुण उनमें विद्यमान थे।

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के

[1] मेघदूत-भूमिका, पृ० ५

[2] मेघदूत-भूमिका, पृ० १२

मौलिक रचना के साथ ही अनुवाद परम्परा अपने उत्थान पर थी। उस समय के साहित्यकार—संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं से अनुवाद करना परम लक्ष्य मानते थे। इस परम्परा में ठाकुर जगमोहनसिंह ने जहाँ अनेक मौलिक रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान कीं। वहाँ संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, मराठी आदि भाषाओं से अनूदित कर साहित्य भण्डार की पूर्ति में योग दिया। ठाकुर साहब ने ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, भामिनीविलास, हंसदूत आदि के अनुवाद के साथ ही महाभारत से देवयानी, वाल्मीकि रामायण से दशरथ विलाप तथा युद्धकाण्ड का कुछ अंश, पञ्चतन्त्र, चाणक्य शतकम् आदि का भी अनुवाद किया। यही नहीं वेदान्त सूत्र, सांख्य, कारिका और ज्ञानप्रदीपिका, वेदान्त-दर्शन आदि ग्रन्थों का भी अनुवाद किया। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी से 'प्रिजनर आफ शिलन' का अनुवाद, तथा फारसी से लैला-मजनू का अनुवाद किया। इस प्रकार अधिकांशतः ठाकुर साहब ने अनुवाद को विशेषरूप में पद्यमयी शैली में ही किया है।

उसके अनुवाद को देखने से यह ज्ञात होता है कि ठाकुर साहब का गहन अध्ययन एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार था। मूलकवि या लेखक की आत्मा से तादात्म्य था। यही कारण है कि मूल कवि के भाव सौष्ठव की सुरक्षा तथा शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद को वरीयता प्रदान की है। ठाकुर साहब का कथन है—प्रायः इसमें ऐसी बातें हैं जो असल काव्य के लाभ हेतु काट देना पड़े। पर मैंने ऐसा नहीं किया—पाठकों के निमित्त ठीक-ठीक उलथा हो और समय और प्रकृति के अनुसार हुआ भी है, हाँ! शब्द के लिए शब्द तो नहीं लिखा पर जिसमें पाठकों को उतनी ही बातें ज्ञात हों जो संस्कृत मूल के पढ़ने से जान पड़े। उस अनुवाद के पढ़ने से वह काम अवश्य निकलेगा।[1]

ठाकुर साहब विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत के महान काव्यकारों से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने संस्कृत के प्रथम श्रेणी के काव्यकारों का अनुसरण किया है। भाव और शैली की दृष्टि से वे आदि कवि वाल्मीकि एवं महाकवि कालिदास के चिरऋणी हैं—अलंकृत शैली में उन्होंने बाणभट्ट का अनुसरण किया है एवं विषय की दृष्टि से वे वेद व्यास से अधिक प्रभावित हुए हैं। ठाकुर साहब ने इन प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी उनका शब्दशः अनुकरण नहीं किया है। अपितु ऐसे स्थलों पर उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है।

ठाकुर साहब ने अपने काव्यों में ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं को अपनाया है। यद्यपि ठाकुर साहब के समय तक काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का स्वरूप स्थिर नहीं हो सका था। तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थों के बीच-बीच में खड़ीबोली युक्त छन्द रखे हैं। ठाकुर साहब की खड़ीबोली पर पूर्वी प्रयोगों की छाप है उन्हें संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अपने कुछ ग्रन्थ संस्कृत में और अंग्रेजी में भी लिखे हैं। ठाकुर साहब की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ अंग्रेजी, उर्दू तथा फारसी शब्दों का प्रयोग मिलता है। ठाकुर साहब की भाषा अभिधा प्रधान है। पर अनेक स्थलों पर लक्षणा और व्यंजना का गौरव भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है।[1]

ठाकुर साहब की भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न है तथापि कहीं-कहीं निरर्थक शब्दों एवं जटिल वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है।[2] वैसे सामान्यतया वे साधारण और छोटे-छोटे वाक्य लिखने में सिद्धहस्त हैं पर साथ ही मिश्रित एवं संयुक्त वाक्य भी लिखे हैं। लिंग के सम्बन्ध में ठाकुर साहब ने पर्याप्त स्वतन्त्रता बरती है। ठाकुर साहब ने प्रचलित सभी विराम चिह्नों का प्रयोग किया है—अल्पविराम, पूर्ण विराम, अवतरण चिह्न, कोष्ठक, निर्देशक, प्रश्न चिह्न आदि। साथ ही टीका सूचक चिह्नों का भी प्रयोग किया है। यद्यपि ठाकुर साहब ने कहीं-कहीं पर पूर्ण परिच्छेद के हो

[1] मेघदूत-भूमिका, पृ० १२

[1] श्यामाविनय, पृ० १४१

[2] वही, पृष्ठ ११०-११५।

जाने पर भी चिह्न का प्रयोग नहीं किया है। पूर्ण-विराम के स्थान पर अंग्रेजी के फुलस्टाप का प्रयोग भी अधिकांश रूप में किया है।

ठाकुर साहब की भाषा में कुछ प्रयोग व्याकरण विरुद्ध हैं जिन्हें च्युत-संस्कृति दोष के अन्तर्गत माना जा सकता है। विशेष रूप से भाववाचक संज्ञाओं में दिखाई पड़ता है। लालित्य, पाण्डित्य, लावण्य आदि शब्द जो स्वयं भाववाचक हैं उनमें निरर्थक भावसूचक या प्रत्यय का योग किया है—अवधान शक्ति की लावण्यता और विवर्ण की लालित्यता इन सब गुणों से भी मेघदूत की कविता बढ़के है।[1]

इसी प्रकार वर्तनी सम्बन्धी कुछ दोष भी पाये जाते हैं। स्, क्, ल् आदि का प्रयोग (हलन्त रूप में) किया गया है—जिसमें तीनों दुख का नाश होय उस्के हेतु में जिज्ञासा अर्थात् पूछने की इच्छा करनी चाहिए[2] ...अथवा आधिभौतिक को रक्षा आदि से निवार सकते हैं[3]। ठाकुर साहब की भाषा में मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। हिन्दी के मुहावरों के साथ ही उसमें प्रचलित संस्कृत एवं उर्दू के मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार ठाकुर साहब आधुनिक युग के उन प्रमुख कवियों में माने जाते हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य में नवीन और प्राचीन दोनों प्रणालियों के समन्वय में योगदान दिया है जबकि गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रान्ति हो रही थी। भाषा, छन्द, अलंकार, विषय आदि में जहाँ परिवर्तन हुए वहाँ शताब्दियों से चली आ रही राधा-कृष्ण की शृङ्गार-परक मधुरता का त्याग भी नहीं किया जा सकता। ठाकुर साहब ने राधा का रूप श्यामा को और कृष्ण का रूप श्यामसुन्दर को दिया है। भक्ति-कालीन कवियों में सूरदास, नन्ददास आदि की भाँति दूत प्रेषण के अनुसार ठाकुर साहब ने पवनदूत, भ्रमर-दूत आदि मौलिक रचना की है जो संस्कृत कवि

[1] मेघदूत-भूमिका, पृ० ८।
[2] सांख्यकारिका, पृ० ३।
[3] वही पृ० ५।

कालिदास तक अपना महत्व प्रकट करती है।[1] उन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति वियोग वर्णन भी किया है।[2]

छन्दों में जहाँ जायसी और तुलसी की भाँति दोहा, चौपाई को अपनाया वहां साथ ही कवित्त और सवैयों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। आधुनिक काल में लोकरीति के अनुसार कजली, लावनी आदि हिन्दी छन्दों—कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि को संस्कृत भाषा में प्रयोग किया है। इस रूप में ठाकुर साहब प्राचीन और नवीन के समन्वयकारी होने के नाते स्वच्छन्द विचारक थे। कुछ साहित्यकार भले ही ठाकुर साहब को परम्परावादी कहें पर विषय, भाषा, छन्द आदि पर पूर्णरूप से विवेचन करने पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे परम्परावाद की सीमा से आगे बढ़कर स्वच्छन्दतावादी कवि हैं।

जिस प्रकार इंग्लैण्ड में बायरन और कीट्स ने सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध, प्रकृति प्रेम का सौन्दर्य-गान क्रमशः कर स्वच्छन्दतावाद की धारा बहाई उसी प्रकार भारतेन्दु युग में ठाकुर जगमोहनसिंह ने प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्द प्रेम और अज्ञात-लालसा सम्बन्धित विषयों को अपनाकर स्वच्छन्दवादिता का श्रीगणेश किया। जिस की सुदृढ़ नींव पर आगे चलकर श्रीधर पाठक, प्रसाद, पन्त, निराला आदि महाकवियों ने अपनी साहित्यिक विशाल बहुमंजिली इमारत खड़ी की। भाषा-शैली एवं विषय आदि विभिन्न क्षेत्रों में ठाकुर साहब का व्यापक प्रभाव परवर्ती साहित्यकारों पर पड़ा है। कुछ विशेष प्रवृत्तियों के तो ठाकुर साहब जन्मदाता ही कहे जा सकते हैं। प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण, संस्कृत वर्णवृत्तों का हिन्दी में प्रयोग, आत्मचरित एवं जीवनी-लेखन आदि ऐसी ही प्रवृत्तियाँ हैं। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में ठाकुर साहब का योगदान निश्चय ही महत्वपूर्ण है। जो उन्हें भारतेन्दुयुगीन कवियों में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित करने में सक्षम है।

—सिविल लाइन, अलवर, राज०।

[1] पवन दूत, भ्रमर दूत, हंसदूत, पारावत दूत आदि।
[2] श्यामालता।

कालिदास का नारी चित्रण

सुश्री प्रतिभा वर्मा

कालिदास के पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्रों ने रसिक लोगों का मन अधिक आकर्षित किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में धारिणी, औशिनरी, पार्वती, उर्वशी, इरावती, मालविका, यक्ष-पत्नी, शकुन्तला, प्रियम्वदा, अनसूया, सुदक्षिणा, इन्दुमती और सीता—इन तेरह महत्वपूर्ण स्त्री पात्रों का वर्णन किया है। इनमें से धारिणी, औशिनरी और सुदक्षिणा मध्यम उम्र की और अवशिष्ट तरुणियां हैं। उर्वशी के अप्सरा होने के कारण उसकी गणना युवतियों में ही की जा सकती है। कालिदास की स्त्री सृष्टि में तरुण स्त्रियों के संख्याधिक्य का विचार करने से उस सौन्दर्यप्रिय तथा सुरुचि सम्पन्न कवि का मन तरुणी स्त्रियों की मुग्ध-मधुर लीला में विशेष रमण करता हुआ दीख पड़ता है। ये सब स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न स्वभाव की हैं। धारिणी, औशिनरी, और अनसूया का गम्भीर स्वभाव, इरावती की ईर्ष्या मालविका, उर्वशी, यक्ष-पत्नी और इन्दुमती की विलासिता, पार्वती की कठोर साधना, शकुन्तला और सीता का स्वाभिमान, प्रियंवदा का विनोदी स्वभाव और सुदक्षिणा की कर्तव्यपरायणता—ये स्वभाव की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ प्रधानता से दृष्टि-गत होती हैं तो भी अधिकांश में हम उनका साम्य दिखा सकते हैं। ये सब स्त्रियाँ अत्यन्त प्रेमिल हैं। इनमें से विवाहित स्त्रियों का पति प्रेम, पुत्रवती का संतान प्रेम और प्रियंवदा, अनसूया का सखी प्रेम निस्सीम है। धारिणी और औशिनरी उत्कट पति प्रेम के कारण ही अपने पति की प्रेम सम्बन्धी अनुचित बातों को पसन्द न करने पर भी—पति को सुख होगा—केवल इसी विचार से नई पत्नी को लाने की सम्मति देती हैं। इनमें से बहुतों के स्वभाव में बहुत अंश तक स्त्री स्वभाव सुलभ ईर्ष्या भी पाई जाती है। तो भी यदि स्वप्न में उसको पर स्त्री का ध्यान करता हुआ देखती है तो एकाएक दुःखित होकर चौंक पड़ती है।[1] इरावती तथा औशिनरी के पति यद्यपि अपना अपराध स्वीकार करते हैं फिर भी वे उन्हें दुत्कार देती हैं। कालिदास की अधिकांश मानस कन्याएँ कला-निपुणा हैं। इरावती और मालविका नृत्य कला में तथा प्रियंवदा, अनसूया, शकुन्तला चित्र-कला में निपुण हैं। यक्ष-पत्नी अपनी विरहावस्था में अपने दुःखी मन को कुछ सान्त्वना देने के लिए कभी-कभी ऐसे पदों को रचती थी जिनमें उसके पति का नाम होता था, और वीणा बजाकर उन पदों को गाने का प्रयास करती थी। कभी विरह से कृश पति का चित्र खींच कर मन बहलाती थी। पार्वती, सीता, शकुन्तला और उसकी सखियाँ आश्रम के वृक्षों को पानी देतीं तथा बड़े प्रेम से उनकी शुश्रूषा करती थीं। यक्ष-पत्नी ने अपने घर के आँगन में एक छोटे से मन्दार वृक्ष को गोद लिए हुए बेटे के समान पाल-पोसकर बड़ा किया था। कालिदास की नायिकाएँ लता-वृक्षों की तरह पशु-पक्षियों से भी निस्सीम प्रेम करने वाली हैं। यक्ष पत्नी संध्या के समय अपने भवन के आँगन में रत्न जटित सुवर्ण की लकड़ी पर बैठे हुए मोर को मधुर ताल-रव से नचाया करती थीं। शकुन्तला ने जन्म ही से मातृहीन दीर्घापांग नामक मृग छौने को अच्छी तरह से पाल-पोसकर बड़ा किया था।

उपर्युक्त स्त्री पात्रों के अलावा अन्य भी कई

[1] मेघदूत ११६।

युवतियों के अस्फुट चित्र 'मेघदूत' में कवि ने खींचे हैं। सदाचार नीति कल्पना में मुक्तमनस्क होने के कारण वनकुञ्ज में आनन्द मनाने वाली वनचर वधू तथा विदिशा के पास नीचगिरि में आनन्द मनाने वाली वार-विलासिनियाँ, महाकालेश्वर के आगे नृत्य करने वाली वेश्याएँ, आकाश में गहरे काले तथा विशाल मेघ देखकर—"ये सब पवन द्वारा लाई गई पहाड़ की चोटियाँ हैं"—ऐसा समझने वाली सरल स्वभाव सिद्धांगनाएँ और कृषि कार्य के लिए आवश्यक मेघों की ओर स्निग्ध दृष्टि से देखने वाली भ्रू-विलासानभिज्ञ ग्राम तरुणियाँ—इन सबका संक्षिप्त पर हृदयग्राही चित्र कवि ने खींचा है तथापि इनकी अपेक्षा और स्त्रियों का ही वर्णन उनके ग्रन्थों में बार-बार आता है। अंधेरी रात में रत्नालङ्कारों से भूषित होकर प्रिय के पास जाने वाली और मेघ-गर्जना से भय-त्रस्त होने वाली अभिसारिकाएँ, नगर के समीपस्थ उद्यान में फूल बीनने से उत्पन्न हुए श्रम के कारण पसीने से तर होने वाली पुष्पलावी तरुणियाँ, कटाक्ष निक्षेप में चतुर और चंचल नेत्रों वाली पौर स्त्रियाँ, परदेश गये हुए प्रियतमों के विरह से व्याकुल तथा अपने शरीर की ओर ध्यान न देने वाली पथिक वनिताओं के शब्द-चित्र कवि ने बड़ी कुशलता से खींचे हैं। कालिदास कृत तीनों नाटकों के नायक बहुपत्नीक हैं"—इसलिए समीक्षक कहते हैं कि वे एक पत्नीव्रत की महत्ता नहीं जानते थे पर यह बात कुछ असंगत सी लगती है, क्योंकि मेघदूत का यक्ष, रघुवश के अज और राम, कुमारसम्भव के शंकर एक पत्नीव्रत धारी हैं। कालिदास के नाटकों के नायकों का बहुपत्नीक होने का कारण कवि का राजाश्रित होना है

महाकवि के स्त्री पात्र ऐसे हैं जिन्हें सम्पूर्ण कथा को संचालित करने का गौरव प्राप्त है। उनके नारी-चरित्रों को हमें संस्कृत साहित्य की मान्यताओं के अनुसार ही आँकना चाहिए। तितली, सरला, कंचना, रोजालिंड, पोर्शिया, मदर की तुलना में कालिदास के नारी-चरित्रों को रखकर हम उनके साथ न्याय नहीं कर सकते। सीता, मालती, मदयन्तिका, हंसपादिका, वासवदत्ता, वसन्तसेना आदि के सन्दर्भ में ही कवि के नारी-चरित्रों का मूल्यांकन होना चाहिए।

शकुन्तला—शकुन्तला की कल्पना में उसके चरित्र को भावित एवं आस्वादित करने के उपक्रम में, कवि को अपनी रसार्द्र चेतना तथा कठोर कर्त्तव्य भावना को समरस बनाने का अपूर्व स्वर्ण-संयोग मिला है। नाटक के आरम्भ में शकुन्तला लता-वृक्षों पर अपने भाई-बहनों की तरह प्रेम करने वाली, प्रारम्भ से ही उनकी चिन्ता करके वाली, उनको नाम देने और बड़े होने पर उनका विवाह कर देने में आनन्द मनाने वाली, स्वयं युवती होने पर प्रिय सखियों के विवाह विषयक परिहास का विषय बनने वाली—एक मुग्धा तरुणी दीखती है, और वही अन्तिम अंक में पति वियोग के कारण मलिन वस्त्र और एक वेणी धारण करने वाली, व्रतोपवासादिक से शरीर सुखाने वाली पतिव्रता, पुत्रवत्सला प्रौढ़ा स्त्री के रूप में परिणत हुई दीखती है। बाल्यावस्था में उसके माता-पिता ने उसे त्याग दिया तो भी कण्व और गौतमी ने उसे अपने आश्रय में रखकर किसी प्रकार के अभाव का अनुभव न होने दिया। सदैव से उसे प्रियंवदा और अनसूया जैसी समवयस्का और प्रीति करने वाली सखियाँ मिलीं। उनके सहवास में उसको लेखन-वाचन, काव्य, इतिहास आदि विषयों के साथ-साथ चित्रकला के सदृश ललित कला की भी शिक्षा प्राप्त हुई। लता-वृक्षों और पशु-पक्षियों के सहवास में बड़ी होने के कारण उनसे निस्सीम प्रेम हो जाता है। वह उन्हें अपना सहोदर समझती है—"आस्ते मे सोदरस्नेह एतेषु।" इसी स्नेह के कारण, वह अपने अलङ्करण के हेतु इनके पत्र तोड़ना भी अनुचित समझती है। उनके प्रथम पुष्पोद्गम होने पर उत्सव मनाती है।

राजा को देखते ही शकुन्तला के मन में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। उसकी धीर-गम्भीर आकृति, मधुर भाषण और असामान्य पराक्रम से उसका हृदय आकर्षित होता है। शकुन्तला 'अव्याज-मनोहर' 'अक्लिष्टकान्ति' है—दुष्यन्त जैसा कुशल चित्रकार

भी उसके लावण्य को रेखाओं में बाँध नहीं सका और उस रूप की पवित्रता ? हाँ, अपवित्र रूप की कल्पना महाकवि कर भी नहीं सकते थे। वह वैसी ही पवित्र है, जैसे अनाघ्रात कुसुम, जैसे नखों से अस्पष्ट किसलय, जैसे अनाविद्ध रत्न, जैसे अनास्वादित मधु, जैसे पुण्यों का अखण्डित फल। इस पवित्रता में कितना सान्द्र आकर्षण है, कितनी गहरी ऐन्द्रियता है, शकुन्तला कामवश हो गई थी – फिर भी उसने स्वाभाविक लज्जा से अपनी मनोवांछा सखियों पर प्रगट नहीं की। राजा से बोलना तो दूर रहा, वह उसके सामने खड़ी भी नहीं रह सकी।

पंचम अंक में शकुन्तला का एक और रूप देख पड़ता है। पहले तो राज-सभा में शकुन्तला का एक आशंकायुक्त संकोच देख पड़ता है। शाप से स्मृतिभ्रम हो जाने वाले राजा को पहचान कराने के जब सब उपाय समाप्त हो गए, अँगूठी भी ठीक समय पर नहीं मिली, तब 'मेरे पाले हुए दीर्घापांग नामक हरिण के बच्चे ने जब आपके हाथ से पानी नहीं पिया, और फिर वही पानी जब मैंने दिखलाया– तब वह पीने लगा' – उस समय आप हँस कर बोले थे—"प्रत्येक जन्तु का अपने सजातीय पर विश्वास होता है, तुम दोनों अरण्यवासी हो।"—इस बात को कह कर वह उसे याद दिलाने का प्रयत्न करती है। इससे क्या राजा को वह मधुर मिलन स्मरण होगा ? पर भोली शकुन्तला को वह भी सम्भव मालूम होता है। ऐसी सरला और प्रेम-शीला शकुन्तला के सामने वज्राघात के समान अस्वीकार का प्रसंग आता है। अब तक शकुन्तला का रौद्र रूप सामने नहीं आया था। अन्त में राजा ने सम्पूर्ण स्त्री जाति पर जग चातुरी का अपवाद लगाया, तब शकुन्तला का गर्व चोट खाकर जाग उठा।

बाद में शकुन्तला राजा के प्रत्याख्यान और दुर्वासा के शाप को लात मार कर स्वर्ग चली गई --यहीं पर कालिदास की कल्पना का महत्त्व है और यहीं पर नारी-चरित्र का चरम विकास है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान के परिणाम में कवि ने दिखलाया है कि दुष्यन्त कृत शकुन्तला का प्रत्याख्यान अन्याय है और ऋषि का शाप उसे घेरे अवश्य था किन्तु साध्वी के महत्त्व को खर्व नहीं कर सका।

शकुन्तला के तीनों रूपों का चित्रण कर नाटककार ने अपनी कला का चरम उत्कर्ष दर्शित कराया है। पहले रूप में शकुन्तला वह थी जिसने चलते-चलते लता पुञ्जों को केलि-विहार के लिए पुनः निमन्त्रण दिया था। दूसरे रूप में शकुन्तला वह थी जिसने दुष्यन्त को 'अनार्य' कहकर डाँट-फटकार बताई थी। तीसरे रूप में शकुन्तला वह थी जो अपने भाग्य-विपर्यय का दोष अपने पूर्व जन्मार्जित कृत्यों पर आरोपित करती है और महर्षि मारीच से दुर्वासा के शाप वाली बात को सुन कर स्वतः अपना मानसिक समाधान खोज लेती है।

प्रियंवदा एवं अनसूया—शकुन्तला की दो सखियों के चित्रण में कालिदास ने यथेष्ट सतर्कता दिखलाई है। वे दोनों सुन्दर, प्रेमिल, क्रीड़नशील तथा चंचल हैं, लेकिन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। अनसूया शान्तिप्रिय, गम्भीर, विवेकशील, दूरदर्शी, व्यवहार कुशल और कर्त्तव्यपरायण है, प्रियंवदा अपने नाम के अनुसार मधुरभाषिणी, सदैव आनन्दित रहने वाली और विनोदप्रिया है। राजा के स्वागत करने, अपनी सखी का जन्म वृतान्त कहने और अन्त में शकुन्तला के साथ अच्छी तरह व्यवहार करने के लिए राजा से बिनती करने में अनसूया ही प्रमुख है।

प्रियंवदा का स्वभाव बिल्कुल इससे उल्टा है। उसके स्वभाव तथा भाषण का आकर्षण सम्पूर्ण नाटक में छलकता है।

मालविका—मालविका दासी रूप में, नाटकारम्भ में हमारे सम्मुख उपस्थित हुई है। वस्तुतः वह विदर्भ कन्या है पर इसकी जिज्ञासा तो समाज भूल ही गया है, क्योंकि प्रणय चक्र की सफलता-विफलता पर ही उसकी मनोदृष्टि अटकी हुई है। पर नाटककार को यह कदाचित अभीष्ट नहीं है कि राजा की प्रणय-ग्रन्थि परिचारिका के साथ जोड़ी जाए इसलिए जान-बूझ कर उसने मालविका के राजकुमारी

होने का रहस्य रंगमंच पर उद्घाटित कराया है। मालविका अत्यन्त आवश्यक एवं सुकुमार स्वरूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। उसके सम्पूर्ण गान अनवद्य सौन्दर्य से पूर्ण हैं।

तथापि अन्य नायिकाओं की तुलना में मालविका की दीप्तिमन्द पड़ जाती है। वह रूप शालिनी एवं नृत्य कला में प्रवीण चित्रित की गई है पर उसमें शकुन्तला का 'अनाघ्रात कुसुम' वाला माधुर्य नहीं है, और न है उस की सी प्रणय वेदना। 'विधि-नियोग' से तड़ित वह अवश्य है, पर शकुन्तला की सी परीक्षा एवं यातना उसे कहाँ सहनी पड़ती है? उर्वशी के समान 'अस्यासर्गविधौ' वाली रूप लक्ष्मी मालविका को प्राप्त नहीं है, यद्यपि वह 'अव्याज सुन्दरी' तो है ही। यह विदित होने पर कि राजा उसकी रूप-माधुरी में फँस गया है वह बिना ननु-नच के उसकी पत्नी बनना स्वीकार कर लेती है। इसीलिए कालि-दास की दूसरी नायिका पार्वती अथवा शकुन्तला के समान धीर-प्रकृति की नहीं दीख पड़ती तथा अज्ञात-वास के कष्ट भोगते हुए उसे कभी पूर्व वैभव की स्मृति हो आई हो ऐसा भी उसके भाषण से नहीं लगता यद्यपि ऐसा कुछ अस्वाभाविक है।

तृतीय अंक में मालविका की दशा का अत्यन्त करुण चित्रण कवि ने किया है। धारिणी की आज्ञा से वह प्रमद वन में अशोक दोहद के लिए आई है, पर उसकी चित्तवृत्ति की कातरता असीम है। दोहद के सन्दर्भों में मालविका का चित्रण सहृदयों के हृदय हरण में अनुपम है।

धारिणी—धारिणी अग्निमित्र की पटरानी है। नाम के ही अनुसार उसमें आत्म-संयम एवं उदारता के गुण वर्तमान हैं। वह प्रगल्भा एवं धीरा है। अन्तःपुर में सभी उसकी धाक मानते हैं। धारिणी कलाप्रिय है, और नाट्याचार्यों को प्रश्रय प्रदान कर, उसे प्रोत्साहन देने में विशेष अनुराग है। वह जितनी क्षमाशीला और शालीन है, उतनी ही चतुर तथा लोक-निपुण है। राजा की मालविका के प्रति आसक्ति का वह सद्यः आभास पा लेती है और तब मालविका को राजा की दृष्टि से बचाने का उपक्रम करने लग जाती है। वह ब्राह्मणों के प्रति दयालु एवं श्रद्धालु है। दोहद के बाद अशोक में जब फूल आ जाते हैं, तब वह मालविका को दिये गये अपने आश्वासन को पूर्ण करने के लिए तत्काल तत्पर हो जाती है। कुमार की विजय के प्यारे संवाद पर तो जैसे उसका नारी-सुलभ मात्सर्य कर्पूर की नाईं फुर-फुर उड़ जाता है और वह राजा को अत्यन्त प्यारा पारितोषिक देने के लिए उद्यत हो जाती है।

इरावती—इरावती रानी धारिणी के बिल्कुल विपरीत स्वभाव वाली है। 'प्रगल्भा' एवं 'अधीरा' है। वह तरुणी तथा नृत्य-गायन कला में निपुण है, प्रकृत्या ईर्ष्यालु मानिनी एवं उतावली है; पति के प्यार पर पूर्ण अधिकार रखने की अभिलाषिणी, एत-दर्थ वह अपने यौवन सुलभ सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए मदिरा पान भी करती है। राजा का मन उस पर से हट न जाए इसलिये रानी धारिणी से कह-कर वह मालविका को बन्दीगृह में डलवा देती है। रानी धारिणी और इरावती इन दोनों की अवस्था और स्वभाव में भेद दिखाने के लिए महाकवि ने मदमत्त इरावती को रंग-भूमि पर दिखाया है।

उर्वशी—संस्कृत साहित्य में प्रतिष्ठित नारी रूप की कसौटी रही है उसकी 'वीर्यक्षोभ' उत्पन्न करने की असीम सामर्थ्य। अप्सराएँ विशेषतया इसी दृष्टि से काव्य-संसार में सम्मानित रही हैं। उनमें भी उर्वशी सबकी मौलामणि है। कालिदास ने उर्वशी को ऐसी सुन्दरी के रूप में चित्रित किया है जिसे बड़े-बड़े तपस्वियों की तपस्साधना विनष्ट करने लिए महेन्द्र अपने 'सुकुमार अस्त्र' की भाँति विनियोजित करते हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उसे जिन स्वर्गीय गरिमाओं से परिवेष्टित किया है, कालिदास की सृष्टि में वे सर्वथा अनुपस्थित हैं। नाटक की उर्वशी एक प्रसन्न-वदना रूपशालिनी सुन्दरी है जिसके जीवन की प्रधान प्रेरणा प्रेम है—'मदनःखलु मां नियोजयति।' यह अवश्य है कि उसके अपार्थिव संसर्गों का सौरभ

उसके चतुर्दिक व्याप्त है किन्तु यह उसकी अन्तः-प्रकृति का अंग नहीं है।

कालिदास की प्रतिभा से निखर उठने पर यद्यपि उसका स्वभाव काफी बदल गया है पर उसका स्वार्थीपन पूर्णतः नष्ट नहीं हो पाया है। अपने उप-भोग के लिए, अपने पेट के बालक के जन्म दिवस से लेकर दूसरे के अधीन छोड़ने में उसे जरा दुःख नहीं होता। उसके स्वभाव में स्त्री सुलभ मात्सर्य है, तथापि रानी औशिनरी की गम्भीर आकृति देखते ही उसके प्रति उर्वशी के हृदय में आदर का भाव उत्पन्न होता है। यद्यपि उर्वशी और औशिनरी दोनों का राजा पर निस्सीम प्रेम है पर औशिनरी का प्यार त्याग-मूलक और उर्वशी का भोग-मूलक है। उर्वशी के चरित्र में वात्सल्य की कमी खटकती है। 'शाकुं-तल' की भाँति कालिदास यहाँ उर्वशी को भी मातृत्व की महिमा से मण्डित करा देते तो अधिक उत्तम रहता।

औशिनरी—रानी औशिनरी पुरुरवा की प्रधान पटरानी हैं। महाकवि के समय में धनी और रसिक लोग विदुषी और विविध कलाभिज्ञ वेश्याओं की संगति में कैसे रहते थे ? इसका उत्तम चित्र वात्स्या-यन के काव्यसूत्र में मिलता है—"ऐसे नागरिकों की पत्नियाँ अपने पति में बाहर की स्त्रियों पर आसक्त होने के लक्षण देखकर भी उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करती थीं। गृह-व्यवस्था देखती थीं और सदैव विविध कर्त्तव्यों में निमग्न रहती थीं। यह इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है। ऐसी ही प्रेम से भरी हुई मानिनी और गम्भीर स्वभाव की गृहिणी का चित्र कालिदास ने रानी औशिनरी के रूप में रँगा है। उर्वशी से प्रेम होने पर भी पुरुरवा रानी औशिनरी के साथ आदर से ही पेश आता है। इसी को देखकर चित्रलेखा कहती है—'दूसरी स्त्री पर प्रेम करने वाले नागरिकों का व्यवहार अधिक सौजन्ययुक्त होता है। ऐसा कहकर उर्वशी को समझाती है।" अतः इस नाटक को लिखते हुए कवि के मन में अपने समय के नागरिकों और उनकी सुशीला सद्गुणी स्त्रियों का चित्र घूम रहा होगा। औशिनरी को राजा की कामुकता अच्छी नहीं लगी और वह पहले तो उसके दिखावटी प्रेम परन्तु निस्सार भाषण को तुच्छ समझ कर चली जाती है। बाद में पाश्चात्ताप होता है और वह प्रियानुप्रसादन व्रत के मिस राजा को बुलाती है और तुम्हारी प्रिय सखा के साथ मैं प्रेम-व्यवहार करने को तैयार हूँ—ऐसा स्पष्ट कह कर उसका रास्ता निष्कण्टक कर देती है। कितना बड़ा स्वार्थ-त्याग है ?

यक्ष-पत्नी—सूर्य के अभाव में हतश्री कमला की भाँति 'मेघदूत' में यक्ष-पत्नी हमारे सामने उपस्थित होती है।

युवतियों में विधाता की पहली सृष्टि यक्ष की रूपसी है, वियोग की गाढ़ी उत्कण्ठा के कारण कुछ ऐसी विवर्ण बन गई है जैसे पाले से मारी हुई कम-लिनी अन्य प्रकार की द्युतिवाली बन जाती है—"जातं मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्"। यक्ष की भार्या जो उसका दूसरा जीवित रूप ही है, एकाकी चक्रवाकी की तरह विरह के दिन व्यतीत कर रही है। पत्नी की वियोग विधुर दशा के विषय में यक्ष का अटूट विश्वास द्रष्टव्य है। भारतीय गृहिणी की विरह कातर दशा का चित्रण कवि ने यक्ष-पत्नी के रूप में किया है, जिसने अपने शरीर की अलंकृति को एकदम तिरस्कृत कर दिया है। यक्षिणी वह प्रिय-व्रता वनिता है जिसके भीतर भर्त्ता के चित्र का अवि-कल प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा इसी मनः साम्य के कारण, पतिव्रताएँ प्रिय की वियोग दशा का अनुमान कर, सुख-सान्दर्य की बातें भूल जाती हैं। यक्ष निविड़ भाव से अपनी प्राण-दयिता में स्नेहबद्ध है।

यक्षिणी को सबसे पहले यही संवाद मिलना चाहिए कि यक्ष जीवित है। सन्देश भेजने की मूल प्रेरणा भी यही रही है कि यक्षिणी को जीवन-धारण का अवलम्ब मिल जाए—'दयिताजीवितालम्बनार्थी'। व्यंजना यह है कि यदि यक्ष के जीवित रहने का संवाद यक्षिणी को तत्काल नहीं मिलेगा तो वह स्यात् पंचत्व को प्राप्त हो जाए।

यक्षिणी के साथ बिताए सुख की स्मृति से यक्ष

पीड़ित है। मुक्ताजाल से उसके केशों का अलंकरण, अंगों का संस्पर्शन इत्यादि संयोग-कालीन विनोदों की स्मृति ने यक्ष को उत्कण्ठा से भर दिया है। अतएव वह अपनी प्यारी की प्रतिकृति की खोज कर रहा है जिसके संनिकर्ष में उसके वियोग ताप का थोड़ा आराम हो सके। यक्षिणी के रूप सौन्दर्य का अनुसन्धान यक्ष प्रकृति के राज्य में कर रहा है।

यक्षिणी के लिए उसके पति को केवल यही भय है कि कहीं वह उसके प्रति अविश्वासी न बन जाए। एतदर्थ, तभी वह प्रेम का शाश्वत सन्देश देता है—

यक्षिणी कितनी भाग्यशालिनी है कि उसके प्रिय का सन्देश प्रेम राशि के संचय का संदेश है। परिस्थिति की अवमानना कर स्नेह-दीप के निरन्तर प्रज्ज्वलित रखने का उद्बोधन है। साथ ही, प्राणवल्लभा को यह विश्वास भी दिलाना चाहता है कि वियोग में उसका उसके प्रति प्रेम घटा नहीं है अपितु उपचय एवं उत्कर्ष को ही प्राप्त हुआ है।

यह उल्लेख्य है कि यक्ष-दम्पति अपना जीवनालम्बन खो चुके हैं—पर 'प्रिय कुशल से रहे', यही तो प्रेम की सबसे बड़ी लालसा है।

पार्वती—महाकवि की रसलिप्सु चेतना का हृदयावर्जक निदर्शन नव-यौवना पार्वती के रूप सौन्दर्य चित्रण में उपलब्ध होता है। जिसे तूलिका से ठीक-ठीक रंग भरने से चित्र का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है और अंशुमाली की रश्मियों से कमल खिल उठता है वैसे ही पार्वती का शरीर भी नवीन यौवन के आगमन से भूरिश खिल गया। जब वे चलती हैं, तब उनके निसर्गतः लाल और कोमल चरणों के उठे हुए अँगूठों के नखों से निकलने वाली चमक को देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानों पग-पग पर कमल उगते जा रहे हों।

पार्वती ने ज्योंही कमल के बीजों की माला शंकर के गले में डाली त्योंही उपयुक्त अवसर जानकर कामदेव 'सम्मोहन' नामक अमोघ बाण शंकर की ओर छोड़ने का उपक्रम करने लगा और शंकर ने तीसरा नेत्र खोल कर उसमें से निकलने वाली प्रचण्ड अग्नि शिखाओं में उसे भस्मीभूत कर दिया। यहाँ कवि ने दो प्रणयातुर बालाओं को व्यथित किया है। एक पार्वती और दूसरी मन्मथ की पत्नी रति—जो पति के साथ-साथ डरती हुई उस तपः शिखर पर आई थी। पार्वती को तो केवल इस बात की भूयसी लज्जा हुई कि सखियों के समक्ष उसके गौरवशाली पिता का मनोरथ और उसकी ललित रूप लक्ष्मी की अवहेलना हुई, किन्तु रति का तो सुहाग ही लुट गया, और थोड़ी देर तक मूर्च्छाग्रस्त रहने के बाद वह पतिपरायणा बाला, नवा वैधव्य की असह्य वेदना का सहन करने के लिए जाग गई, और तब रति ने विलाप की जो मर्म द्रावक धारा बहाई है, उसका जोड़ विश्व-साहित्य में कठिनाई से मिलेगा। पति के परमस्नेही मित्र वसन्त को देख रति और फूट-फूट कर रोने लगती है।

पार्वती की तपस्साधना का जो चित्र अंकित किया गया है—वह एकदम सहृदयों को तड़पा देने वाला है। उस दृढ संकल्पा युवती ने वह हार उतार फेंका, जिसके निरन्तर हिलते रहने से उरस्थों पर का लिपटा चन्दन पुछ कर छूट जाता था और उसके बदले बालारुण के समान रक्तिम वल्कल धारण कर लिया। जटा रख लेने पर भी उसका मुख वैसे ही प्यारा लगता था जैसा पहले सुसज्जित वेणियों से; क्योंकि पंकज केवल भ्रमरों से ही नहीं शोभता, अपितु सेवार से वेष्ठित होने पर ही शोभा देता है। जो बाला पहले सुसज्जित सेज पर करवटें लेते समय अपनी चोटी से स्खलित कुसुमों के दबने से सी-सी करने लग जाती थी, वही अब अपनी भुजाओं का उपधान बना कर बिना बिछौने के खाली भूमि पर सो जाती थी।

पार्वती रूपगर्विता, मर्यादापरायण भार्या हैं। वे गुरुजनों के सम्मुख नितान्त नम्र एवं संकोचशील हैं तथा दुर्जनों को तीव्र वाक्शरों से घायल करने वाली हैं। पति के सन्ध्यावन्दन में अधिक समय व्यतीत करने पर वे सपत्नियों की भाँति मत्सरग्रस्त बन जाती हैं तथापि मदन-दहन के उपरान्त नैराश्यग्रस्त होकर उन्होंने जो महान तपस्या की तथा अपने अत्यन्त सुकु-

मार गायों को जो कष्ट दिए उससे स्पष्ट है कि मानवीय भूख से उद्वेलित होते हुए भी साधारण मानव नहीं हैं। हमारे लिए यह अनुभव करना कठिन है कि कवि और उसके श्रोताओं के लिए ऐसी योगिनी एवं दृढ़ संकल्पा कुमारी का क्या अर्थ हो सकता था? महाकवि ने यहाँ नारी को कम से कम पुरुष के समकक्ष चित्रित किया है।

सुदक्षिणा—सुदक्षिणा, इन्दुमती, सीता—ये तीन नारी पात्र महाकवि के महाकाव्य 'रघुवंश' से प्रसूत हैं। सुदक्षिणा राजा दिलीप की पत्नी और रघु की माँ हैं। पति-परायण, आदर्श कुलबधू के रूप में सुदक्षिणा का चित्र महाकवि ने उतारा है।

सीता—कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंशम्' की सीता आदर्श नारी और भारतीय संस्कृति और सभ्यता का जाज्वल्यमान प्रतीक हैं। सीता का आख्यान कालिदास ने वाल्मीकि से ग्रहण किया है। रामायण में जो प्रसंग संक्षिप्त है उसे कालिदास ने विजृम्भित कर दिया है और जो प्रसंग विस्तृत है, उसे संक्षिप्त बना दिया है। लेकिन जहाँ उन्हें कोई महान् दृश्य अंकित करने का अवसर मिला है वे उसे छोड़ नहीं पाये हैं। वाल्मीकीय रामायण की सीता से कालिदास की सीता कुछ भिन्न हैं। शूपर्णखा के प्रणय प्रस्ताव का राम तिरस्कार करते हैं और सीता हँसकर उसका उपहास करती हैं। हँसी से क्रुद्ध होकर शूपर्णखा प्रतिशोध की प्रतिज्ञा करती है, जिसकी परिणति रावण द्वारा सीताहरण में होती है। वाल्मीकि ने सीता के हंसने का उल्लेख नहीं किया है। जो वस्तुतः समस्त घटना-प्रवाह का निर्णायक बिन्दु है। महाकवि ने इस प्रकार सीता के अपहरण तथा उनकी सम्पूर्ण विपदाओं का दोष सीता पर ही आरोपित किया है।

सीता पति-परायणा, आदर्श कुल शीला पत्नी और कुल-वधू हैं। सीता के चरित्रांकन में कहा गया है कि श्रेष्ठ नारियाँ पति को देवता—'पतिदेवतानां' मानती हैं।[१] जब राम बन जाने को तैयार हुए तब सीता उनके सामने इस प्रकार खड़ी हो गईं जैसे वे उनकी गुणवती लक्ष्मी हों—'लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी।' कवि यह मानता है कि स्त्री के ऊपर पुरुष का सर्वाधिकार है—'उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी'—लेकिन वह स्पष्ट निर्देश करता है कि सच्ची साध्वी गृहिणी घर की देवी, मन्त्री और मित्र सब कुछ हुआ करती है। ललित कलाओं में पति की प्यारी शिष्या भी होती है।

वन से लौटने पर सीता कौशल्या और सुमित्रा के चरण स्पर्श करती हैं और अपना परिचय इन शब्दों में देती हैं—'क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम।' (पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता मैं ही हूँ।) किन्तु सीता जितना दैन्य एवं आत्मकदर्थना दिखाती हैं उतना ही प्यार एवं आदर दोनों ही सासुएँ उन्हें प्रदान करती हैं—"उठ बेटी, तेरे ही पातिव्रत के प्रभाव से राम और लक्ष्मण संकट के मुख से पार हुए।'

पतिव्रता होने के साथ ही स्त्रियों को सासुओं के प्रति श्रद्धालु होना चाहिए और सासुओं को भी ऐसी पुत्र-वधुओं के प्रति प्यार एवं सम्मान का दान देना चाहिए। कवि का यही स्पष्ट भाव है। शकुन्तला को कण्व ने विदाई के अवसर पर—"शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने"—कह कर जो उपदेश दिया है उसमें भारतीय लोकादर्श की सटीक अभिव्यक्ति हुई है।

भारतीय नारी की सबसे बड़ी विभूति पति के प्रति उसका अखण्ड प्यार है जिससे अनुप्राणित एवं अभिभावित होने के कारण, वह उसके आचरण के सम्पूर्ण अनौचित्य को क्षमा कर देती है और इस जन्म में ही नहीं, प्रत्युत् दूसरे जन्मों में भी उसकी सहधर्मचारिणी बनने की कामना रखती है। सीता इस दृष्टि से कालिदास की आदर्श रमणी है। वन में लक्ष्मण द्वारा परित्यक्त किए जाने पर वे अपने भाग्य को ही दोष देती हैं और राम को 'कल्याण बुद्धि' कह कर सभी प्रकार के दोष से मुक्त कर देती हैं। क्षमा एवं भक्ति से ओतप्रोत अपने सन्देश में वे यह अभीप्सा व्यक्त करती हैं कि दूसरे जन्म में उनका पति (श्री राम) से वियोग न हो।

—द्वारा श्री अलखनिरंजन वर्मा, रायगंज, गाजीपुर।

[१] (रघुवंश १४।७४)।

मुसलमानों की हिन्दी-सेवा

● प्रो० नरेश

मुसलमान जब भारत में बस गये और माँ के दूध के साथ भारतीय परम्पराओं का भी पान करने लगे, तो उनके लिए अभिव्यक्ति का माध्यम फारसी न होकर भारतीय भाषा हुई। जो लोग भाषा के चमत्कार से अपनी विद्वता की धाक जमाना चाहते थे, उनके हाथ तो फारसी कविता की उपमाओं एवं प्रतीकों के लिए फैले रहे; परन्तु जो लोग हृदय की बात करना चाहते थे, उनके अहं ने याचक बनना स्वीकार नहीं किया। अतएव अपने प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिए उनके पाँव भारत की भूमि पर ही टिक रहे। यद्यपि उनके पास कहने तथा चित्रित करने के लिये इस्लाम की मान्यताएँ भी थीं, परन्तु उन्हें अभिव्यक्त करने का माध्यम कदाचित् ईरान या अरब का जीवन नहीं था, वहां की ऋतुओं का वर्णन एवं परम्पराओं का गान नहीं था।

हिन्दी कविता के इतिहास में अब्दुर्रहमान, अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, कुतुबन, मंझन, रसखान आदि अनेक मुस्लिम कवियों के नामों से पाठक परिचित ही हैं। 'सन्देश-रासक' को जहाँ कविता का प्रथम ग्रन्थ होने का श्रेय प्राप्त हुआ है,[1] वहाँ अमीर खुसरो के काव्य के विषय में भी कतिपय विद्वानों का ऐसा ही विचार है। दोनों में से कोई सा विचार भी मान्य हो, यह तो निश्चित ही है कि हिन्दी कविता का प्रणेता कोई मुसलमान रहा होगा। जायसी का पद्मावत हिन्दी साहित्य का महान् ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु यहीं पर बस कर जाना, मुसलमानों के साथ ही नहीं, हिन्दी-साहित्य के साथ भी अन्याय है। यहाँ, हम उपरोक्त कवियों की नहीं, अपितु संक्षेप में उन कवियों की चर्चा करेंगे, जिनको इतिहासकारों ने उचित स्थान नहीं दिया। हिन्दी कविता के आदिकाल से लेकर आज तक के मुसलमान कवियों की रचनाओं पर ध्यान दिया जाए, तो एक लम्बी परम्परा के दर्शन होते हैं। एक ऐसी धारा के जो अबाध गति से बह रही है, जो मार्ग में कहीं रुकी नहीं, कहीं थमी नहीं।

सन् १४८६ में. मक्का में जन्म लेकर. बचपन में ही भारत आने वाले कवि शमसुलुश्शाक शाह मीरांजी ने हिन्दी कविता में पाँच कृतियों से अपना योगदान दिया है। उनकी रचनाए हैं— (१) खुशनामा (२) खुशनगंज (३) शहादतुल हकीकत (४) शरा मरगूब अल कलूब (५) सब रस। खुशनामा में जहाँ सांसारिक माध्यम से अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझाया गया है, वहाँ खुशनगंज में तव्वकुल, फिक्र. मुहब्बत और जिक्र—साधना के चार ढंग मानकर सूफी साधना पर प्रकाश डाला गया है।[1] उदाहरणार्थ—

> तुझ बिन और न कोई ता खालिक दूजा,
> ले तेरा होय करम तो टूटे सभी भरम।
> इस कारण तुझको ध्याऊँ औ' तेरा नाम लूँ
> तुझसा रत्ता कौन जगो और पूरी सिफत बखाने।

इनके बाद दूसरे प्रमुख कवि शाह बरकतुल्लाह प्रेमी हैं। इनका जन्म १६६० ई० में श्रीनगर में हुआ। ऐसा इन्हीं की काव्य-रचना "प्रेम प्रकाश"

[1] [हिन्दी का प्रथम काव्य ग्रन्थ रोडे कृत 'राउल वेल' है जिसकी रचना लगभग ११वीं शती में हुई थी। —सं०]

[1] एम० राधाकृष्णन : साहित्य सन्देश : मई १९६५

से विदित होता है—

हम बासी सिरीनगर के आए बसे सब छोर
मारहेर से नगर में जहाँ साह नहीं चोर।

इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रेम प्रकाश' है। यह ग्रन्थ मूलतः फारसी लिपि में लिखा गया। २५७ वर्ष के बाद सन् १९४३ में श्री लक्ष्मीधर शास्त्री ने इसे देवनागरी लिपि में प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ की कविताएँ रहस्यवादी हैं तथा उनमें भक्ति एवं प्रेम की प्रधानता है।[१] प्रेमी की सबसे बड़ी विशेषता उनका विश्वबंधुत्व का प्रचार है। भारतीय आत्मा उनके काव्य में सशक्त रूप से मुखरित हुई है। यथा—

हौं चकवी वा सिन्धु की जहाँ न सूरज चन्द।
रात दिवस नहीं होत हैं न दुख नाँय अनन्द।।
मन भौरा भन्नात नित तुम अम्बुज मुख काज।
ज्यों पतंग प्रदीप सों जात न कबहूँ भाज।।
× × ×
हौं चाहौं पिय पक्करों विरहा पकरे पाय।
बीरबहूटी जिमी सदा सिमट सिमट रह जाय।।
उत सावन इत नैन हैं उत गर्जन इत आह।
उतहि कूक इत हूक है सको तो लेहू बचाय।।

सूफी शाह नामक एक अन्य कवि ने हिन्दी की श्रीवृद्धि ही नहीं की, अपितु हजरत मुहम्मद साहिब को कृष्ण के रस में प्रस्तुत करते हुए उन्हें 'नूर' सिद्ध करके, हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक धार्मिक सूत्र में बाँधने का सराहनीय प्रयास भी किया। सैयद मुर्तजा ने बंगला तथा हिन्दी को निकट लाने का यत्न किया, तो काजी चाँद ने बंगला भाषा में हिन्दी के शब्द भरे। नसीर ने आगम-निगम के आधार पर आध्यात्मिकता की चर्चा की, तो आदिल ने कृष्ण कन्हैया के रूप पर मोहित होकर, उनकी मुरली की तान को कविता में भर दिया। इनके अतिरिक्त मुल्ला दाऊद ने 'चन्दायन' से हिन्दी साहित्य को विभूषित किया, तो रिज्क-उल्लाह ने फुटकल रचनाओं से हिन्दी भवन को सजाया, संवारा। हफीजउल्लाह खाँ ने अनेकानेक ग्रन्थों से हिन्दी को समृद्धि प्रदान की।[१]

नजीर अकबराबादी को संभवतः इसलिए हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं मिला, क्योंकि उनकी रचनाएँ फारसी लिपि में उपलब्ध थीं। किन्तु हम समझते हैं कि नजीर की हिन्दी सेवा को अस्वीकार करना बड़ी भारी भूल है। नजीर ने मुसलमान कवियों को भारतीय जीवन की ओर बढ़ने से ललकारा तथा अनेक देवी-देवताओं, अवतारों, भारतीय सामन्तों, ऋतुओं, पर्वों एवं दृश्यों पर कविताएँ लिखकर साहित्य के लिए बहुमुखी प्रतिभा के द्वार मुक्त किए। उन्होंने गंगा नहाकर नमाज पढ़ी तो रोजा रखकर आरती भी की। श्रीकृष्ण सम्बन्धी उनकी कविता का नमूना दृष्टव्य है—

तारीफ करूँ अब मैं क्या-क्या,
उस मुरली अधर बजैया की।
नित सेवा कुन्ज फिरैया की,
और बन बन गऊ चरैया की।।
गोपाल बिहारी बनवारी दुख-
हारन मेहर करैया की।
गिरधारी सुन्दर श्याम वरन,
और हलधर जू के भैया की।।[२]

तथा पार्वती विषयक उनकी रचना है—

इस राजा हिमाचल के घर में
इक बाली सुन्दर बेटी थी।
मुख उसका चन्द्र गगन का था
नाम उसका गौरा पार्वती।[३]

आधुनिक युग में अनेक मुसलमान कवि हिन्दी कविता करने में संलग्न हैं, परन्तु क्योंकि वे देवनागरी लिपि से अनभिज्ञ होने के कारण फारसी लिपि का सहारा लेते हैं, इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की दृष्टि में उपेक्षित रहते हैं। पाकिस्तान के अनेक कवि, निरन्तर हिन्दी में लिख रहे हैं। उनमें

° आजकल : मई १९६५

१ हजार, नवीन संग्रह, षटऋतु, काव्य-संग्रह: प्रेम तरंगिनी इत्यादि
२ नजीर अकबराबादी : कन्हैयाजी का खेल कूद
३ वही : महादेवजी का ब्याह

से कुछेक का उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

जाग सहेली।
आँखें मलकर, जाग संभलकर,
ओअलबेली, जाग सहेली।
देख वह उठकर गया नदी पर
साजन तेरा नींद की माती
अपनी सुध ले।[1] कतील शिफाई

स्वामी समझे घूँघट पीछे होगा चाँद सा मुखड़ा।
घूँघट के पट खुले तो निकला मुरझाया सा मुखड़ा।

× × ×

नई नवेली का यह स्वागत ? ननद न सास न देवर।
मैके से भी क्या लाई है खोट के पीले जेवर।[2]
—कतील शिफाई

[1] कतील शिफाई : गजर पृ० १७
[2] कतील शिफाई, गजर, पृ० ८०

अंधियारे का दर्पण टूटा पूर्व ने पौ बरसाई।
अंगारे का झूमर पहने ऊषा ने ली अँगड़ाई।
जंगल महके पक्षी चहके लहकी बहकी पुरवाई।[3]—नदीम

और बड़ी बात यह है कि इन कवियों ने इस्लाम तथा हिन्दू धर्म के बीच की खाई को पाटने का श्लाघ्य प्रयास किया है। कलात्मक चमत्कारों से आगे बढ़कर पाठकों को विश्व-बन्धुत्व का मार्ग दिखाया है। इन मुसलमान कवियों ने भारतीय अध्यात्मिकता के लिए फारसी भाषा के प्रतीक या उपमाएँ लेकर, पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यता को निकटता प्रदान की है। नवीन शब्दों से भाषा के भण्डार में वृद्धि की है तथा मसनवी शैली देकर काव्य-रूपों में एक नूतन परम्परा का सूत्रपात किया है। संकीर्णता के मल को प्रेमजल से धोकर साफ किया तथा कवित्व की मार्मिकता से उस पर चन्दन का लेप किया।

—ई–१/५२ पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़–१४

[3] अहमद नदीम कासिमी, जलालो जमाल, पृ० ६४
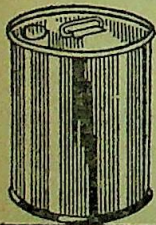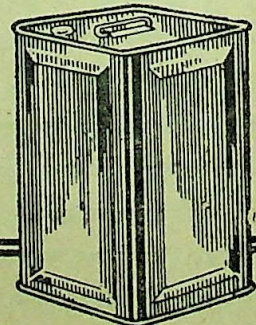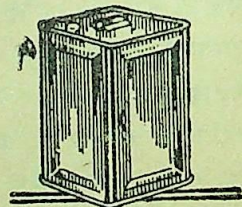
हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का विश्लेषण

• श्रीमती स्नेहलता सुन्दरेसन

'अञ्चल' शब्द का अर्थ सीमा के आसपास का प्रदेश अथवा किसी क्षेत्र का कोई पार्श्व है।[1] अञ्चल शब्द किसी निश्चित भौगोलिक प्रदेश का वाचक है जो प्रदेश अपने आप में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से देश के लगभग सभी प्रदेशों से एकदम भिन्न और निरा अछूता हो। अतः आंचलिक उपन्यासों की संज्ञा उन उपन्यासों को दी जा सकती है, जिनमें किसी विशेष सीमित क्षेत्र अथवा जनपद के जन-जीवन का, वस्तून्मुखी दृष्टि से चित्र अंकित करने का उपक्रम किया जाये। दूसरे शब्दों में किसी अंचल की समस्त समस्याओं, संघर्षों, आचार-विचारों, विश्वासों-आस्थाओं, कला, संस्कृति तथा भौगोलिक स्थिति के आकलन को, जो अपनी परिधि में समेटे हो, वह आंचलिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया जा सकता है। यहाँ 'आंचलिक' एक विशेषण है। जोकि एक विशेष प्रकार के उपन्यासों की कोटि को अभिव्यक्त करता है। वह उपन्यास का स्थानापन्न तत्त्व नहीं, न ही कोई विशेष्य है।

वस्तुतः आंचलिक उपन्यासों में भौगोलिक सीमांत और भौगोलिक संस्कृति प्रमुख वस्तु है। विवेच्य उपन्यासों का लक्ष्य किसी सीमांत अथवा क्षेत्र की चित्रगत वास्तविकता का अंकन करना नहीं, अपितु उसकी सम्पूर्ण भौगोलिक संस्कृति तथा जीवन-प्रणाली को संश्लिष्ट एवं निष्कपट भाव से स्थानीय विशेषताओं के साथ, वहाँ की स्थानीय बोली में ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करना है। आंचलिक उपन्यास की व्याख्या करते हुए प्रकाश वाजपेयी का कथन है—

"किसी नदी पर बसे हुए ग्राम अथवा कतिपय ग्रामों का समूह, जिनकी बोली, भाषा एक हो, जिनके आमोद-प्रमोद एक हों, जिनके विवाहादि मांगलिक अवसरों के गीत एक हों, त्यौहार एक हों, जिनकी लोककथाएँ, लोकगीत किंवदन्तियाँ तथा सम्पूर्ण जीवन व्यवस्था एक हो। इस प्रकार के परिवेश की आत्मा जिस उपन्यास में साकार हो उठे उसे आंचलिक उपन्यास कहते हैं।"[2]

यद्यपि आंचलिक उपन्यास, सामाजिक उपन्यास से नितान्त भिन्न हैं, तथापि इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करना सहज कार्य नहीं। विशुद्ध आंचलिक उपन्यास की उपलब्धि सम्भव नहीं। प्रत्येक आंचलिक उपन्यास अपने किसी न किसी अंश में सामाजिक है, तथा प्रत्येक सामाजिक उपन्यास किसी न किसी अंश में आंचलिक। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोनों अभिन्न हैं। दोनों की भिन्नता स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यास में सर्वांगीण जीवन के किसी परिचित सत्य का उद्घाटन किया जाता है जो कि सर्वपरिचित न भी हो। दूसरी ओर जहाँ सामाजिक उपन्यासों के पात्र किसी टाइप विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहाँ आंचलिक उपन्यासों में यह पात्र किसी-जाति विशेष के प्रतिनिधि होते हैं। सामाजिक उपन्यास में उपन्यासकार का स्वर सुधारवादी का सा होता है, जिसकी विचार-धारा आदर्शवादी होती है। यह अपने उपन्यास में किसी विशेष समस्या का समाधान खोजता रहता है।

[1] मानक हिन्दी कोश (प्र. खंड), सं. रामचन्द्र वर्मा

[2] 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास'—प्रकाश वाजपेयी

दूसरी ओर आंचलिक उपन्यासकार सुधारवादी विचारधारा को महत्त्व नहीं देता, अपितु उसे परे हटाकर अंचल विशेष की भौगोलिक संस्कृति के वातावरण का, उसमें घटित घटनाओं का यथा-तथ्य चित्रण करता हुआ इन घटनाओं की ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक धारणाएँ प्रस्तुत करता है।

आंचलिक उपन्यास वस्तुतः हिन्दी साहित्य की एक नवीन विधा और सिद्धि है। जिसमें देशकाल को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसमें आद्योपान्त संवाद-सौष्ठव ही दृष्टिगत होता है। उपन्यासकार स्वाभाविकता लाने के हेतु स्थानीय भाषा का प्रयोग अधिकाधिक करता है। बोली ही नहीं, प्रत्युत उस जनपद विशेष में प्रचलित मुहावरों, कहावतों और लोकगीतों का यथा-अवसर स्वाभाविक रूप से प्रयोग करता है। वास्तव में इस प्रकार के प्रयोगों पर ही इस उपन्यास का सौन्दर्य एवं सफलता निर्भर करती है।

हिन्दी-आंचलिक उपन्यास के मूल स्रोत के संबंध में विचारकों के दो वर्ग स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। प्रथम वर्ग में विचारकों का वह दल आता है, जो कि आंचलिक उपन्यासों में प्रेरक-सूत्र हिन्दी के ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यासों में प्राप्त करते हैं। दूसरे वर्ग में वह विचारक आते हैं जो कि इन सूत्रों को पाश्चात्य 'रीजनल उपन्यासों' में देखते हैं।

प्रथम वर्ग से सम्बन्धित विचारकों का मत है कि वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में इनका बीज देखा जा सकता है। वर्माजी के उपन्यास यद्यपि ऐतिहासिक हैं तथापि उनकी पृष्ठभूमि आंचलिक है। इन ऐतिहासिक उपन्यासों में एक विशेष जनपदीय (बुन्देलखण्डी) बोली, मुहावरों, लोकगीतों और आचार-विचारों का अंकन होता है। अतः इन उपन्यासों को हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के प्रेरक-सूत्र अथवा हिन्दी-आंचलिक उपन्यास परम्परा की प्रथम कड़ी माना जा सकता है।

दूसरे वर्ग के विचारकों के अनुसार हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का मूल-स्रोत अमरीकी आंचलिक उपन्यास साहित्य है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकार अमरीकी उपन्यासों से अत्यन्त प्रभावित हुए तथा उन्होंने हिन्दी जगत में भी इस प्रकार के उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की।

आंचलिक उपन्यास सम्बन्धी आन्दोलन सर्वप्रथम अमरीकी उपन्यास जगत में ही दृष्टिगत होता है। यूरोपीय साहित्य में इन आंचलिक उपन्यासों की एक स्पष्ट परम्परा १९ वीं शती के प्रारम्भ में प्राप्त होती है। सन् १८०० ई० में मेरिया एलवर्थ ने इंगलैण्ड के प्रमुख नगरों की अवहेलना कर सर्वप्रथम आयरलैण्ड में कृषक-समाज को अपने उपन्यास का विषय बनाया। मेरिया-एजवर्थ का उपन्यास 'कैसिल-रैकरेंट' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कृति है। जिसमें आंचलिकता की समस्त विशिष्टताएँ विद्यमान हैं। मेरिया एजवर्थ ने इस प्रकार के उपन्यासों का नामकरण करते हुए इन्हें 'रिजनल-नॉवल' के नाम से अभिहित किया।

मेरिया-एजवर्थ से प्रभावित होकर लगभग अस्सी वर्ष पश्चात् आर्कट्वेन ने अपने उपन्यास 'हैकलबरी-फिन' की रचना की। इस रचना के प्रकाश में आने के उपरान्त अमरीकी उपन्यास-जगत में यूरोप की औपन्यासिक परम्परा के विरोध में क्रान्ति उत्पन्न हो गई। परिणामस्वरूप आंचलिक उपन्यास अधिकाधिक प्रकाश में आने लगे। इन्होंने अपने दूसरे प्रसिद्ध उपन्यास 'लाइफ आन दि मिसिसिपी' (१८८३) की रचना के द्वारा अमेरिका में आंचलिक उपन्यास परम्परा में पूर्णरूपेण स्थापित कर दिया। इसी परम्परा में हेमिंग्वे और आरनॉल्ड बैनेट का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त अमरीका में आंचलिक उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई। अमरीकी यथार्थवादी और स्वाभाविकतावादी लहर ने भी इस आंचलिक तत्व को अधिकाधिक उभारा। विलियम फॉकनर, स्टेनबैक, बिरहार्ट और विलाकैथर जैसे उपन्यासकारों ने सुन्दर आंचलिक उपन्यासों की रचना की। इनके अतिरिक्त अन्य और भी आंचलिक उपन्यासकार इस सदी में दृष्टिगत होते हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश उपन्यासकार पूर्णरूपेण आंचलिक नहीं कहला सकते।

इन उपन्यासकारों ने अधिकतर आंचलिकता की सीमा केवल स्थानीय वातावरण तक ही सीमित की है।

पश्चिम के अन्य प्रदेशों ने इस आंचलिकता को इतना महत्व नहीं प्रदान किया। क्योंकि विशेषकर यूरोपीय बौद्धिक चेतना-मनोविज्ञान, विज्ञान और बुद्धिवादी दार्शनिक चिन्तन में उलझ कर आंचलिकता से बहुत दूर रही।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों को स्वाभाविक रूप से पाश्चात्य उपन्यासों से ही प्रेरणा प्राप्त हुई। वृन्दावनलाल वर्मा अथवा प्रेमचन्द के उपन्यासों को इनका प्रेरक तत्व स्वीकार करना उचित नहीं। क्योंकि यद्यपि प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इस दिशा में पग उठाते दिखाई देते हैं। उनमें कथानक किसी अंचल विशेष का विद्यमान रहता है तथापि इन उपन्यासों में आंचलिकता पूर्णरूपेण उभर नहीं सकी है।

भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम प्रौढ़ आंचलिक उपन्यासों का स्रोत बँगला साहित्य से फूटता दिखाई देता है। शरत्चन्द्र ने भी इस आंचलिकता को अंशत: (लगभग प्रेमचन्द और थामस हार्डी के समान) अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया। किन्तु आगे चलकर बँगला में सफल आंचलिक उपन्यासकार दिखाई देने लगे। जिन्होंने प्रेरणा मूलत: शरत् से ही ग्रहण की।

जहाँ शरत् 'पल्ली-समाज' का सीधा सादा चित्र मात्र उतार पाये थे, वहाँ आधुनिक वाद के उपन्यासकारों ने विभिन्न अंचलों के जीवन के समग्र चित्र प्रस्तुत करते हुए वहाँ का मानवशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। विभूतिभूषण, ताराशंकर, वन्द्योपाध्याय और सतीनाथ भादुड़ी आदि बंगला के सजग उपन्यासकार भी आँचलिकता को प्रस्तुत करते हुए कहीं-कहीं अपने उपन्यासों में उससे दूर जाकर भटक गये हैं। अतः इनके उपन्यासों को आंचलिकता की दिशा में एक सजग सफल प्रयास कहा जा सकता है किन्तु इन्हें सर्वांग सफल आंचलिक उपन्यासों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

उड़िया भाषा के लेखक गोपीनाथ महन्ती का 'अमृत-सन्तान' उपन्यास भारतीय आंचलिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। उड़ीसा के दक्षिणी जंगल के अंचल को उस उपन्यास की आधारभूमि बनाया गया है। वहाँ के आदिवासियों के जीवन को चित्रित करते समय उपन्यासकार ने बड़ी उदारता एवं कुशलता से वहाँ की समग्र आंचलिक संस्कृति का भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी किया है।

हिन्दी वाङ्मय में आंचलिक उपन्यास की इस नवीन विधा का अभ्युदय २०वीं शती के उत्तरार्ध में स्वतन्त्रता के उपरान्त राष्ट्रीय चेतना के जन्म के साथ हुआ। निराला का उपन्यास आंचलिक उपन्यास परम्परा की प्रथम महत्वपूर्ण कड़ी है। उनके 'चतुरी-चमार', बिल्लेसुर-बकरिया', 'चोरी की पकड़' इस दिशा में सराहनीय प्रयास हैं।

इनके उपरान्त उदयशंकर भट्ट और अमृतलाल नागर का नाम भी आंचलिक उपन्यासकारों में गिना जाता है। अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' और उदयशंकर भट्ट का 'सागर-लहरें और मनुष्य' आंचलिक उपन्यासों की कोटि में गिने जाते हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी नें इन दोनों उपन्यासकारों को आँचलिक उपन्यास का स्रष्टा कहा है। किन्तु इन दोनों उपन्यासों में आंचलिक तत्व उतना नहीं दिखाई देता जितना कि किसी उपन्यास को आंचलिक सिद्ध करने के लिए अपेक्षित है।

उदयशंकर भट्ट की 'सागर-लहरें और मनुष्य' इस दिशा में एक सराहनीय कृति है। किन्तु इस उपन्यास में आंचलिकता और नागरिकता का कुछ ऐसा बेमेल मिश्रण है कि उपन्यास का आंचलिकता सम्बन्धी तत्व उसमें खो जाता है। बरसोवा गाँव की भोली-भाली मछेरिन को न जाने किस मोह में आकर लेखक ने एक फैशनपरस्त नागरिका में परिणत कर दिया है। आलोच्य उपन्यास में लेखक ने बम्बई के 'संघर्ष' में समुद्र तट पर बसे हुए बरसोवा गाँव के निवासी मछुओं के जीवन को समग्रता से चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त इसमें यथार्थवादी प्रभाव अधिकाधिक उत्पन्न करने के लिए स्थानीय बोली और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है। अतः इस उपन्यास

में आँचलिकता केवल अंशतः ही आ पाई है।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' को भी पूर्ण आँचलिक नहीं कहा जा सकता। यह आँचलिक उपन्यासों के निकट अवश्य है, किन्तु पूर्णतः आँचलिक नहीं है। इसे यथार्थवादी उपन्यास कहना अधिक समीचीन होगा।

नागार्जुन के साहित्य में अवतरित होते ही विशुद्ध आँचलिक उपन्यासों का स्वाभाविक स्वरूप देखने में आया। उनका 'बलचनमा' नामक उपन्यास हिन्दी के प्रथम स्वाभाविक सफल आँचलिक उपन्यास होने का गौरव प्राप्त कर सकता है। मिथिला के अंचल की सीमित गाथा के माध्यम से लेखक ने वर्गवादी संघर्ष का चित्र आँकते हुए दलित आत्माओं का क्रन्दन मुखर किया है। 'बलचनमा' में लेखक ने इस अंचल विशेष के जीवन के सम्पूर्ण आयामों को ग्रहण कर उसकी ऐतिहासिक व्याख्या भी की है। आगे चलकर 'बाबा बटेसरनाथ' 'रतिनाथ की चाची' 'दुखमोचन' और 'वरुण के बेटे' नामक उपन्यासों में लेखक की आँचलिक प्रतिभा अधिकाधिक मुखर होती गई है। इन समस्त उपन्यासों में आँचलिकता पूर्णता की ओर अग्रसर होती देखी गई है।

नागार्जुन की इस अप्रत्याशित सफलता के उपरान्त हिन्दी साहित्य में आँचलिक उपन्यासों की लहर उमड़ी। जिसमें देवेन्द्र सत्यार्थी, फणीश्वरनाथ रेणु तथा भैरवप्रसाद गुप्त के प्रयास विशेष सराहनीय हैं। जिन्होंने हिन्दी उपन्यास के इस नवीन आयाम को अत्यन्त समृद्ध किया है।

'रेणु' का उपन्यास 'मैला आँचल' एक महत्वपूर्ण आँचलिक उपन्यास है। इसने हिन्दी जगत में एक हलचल मचा दी। किन्तु साथ ही यह उपन्यास अत्यन्त विवादस्पद है। इस उपन्यास की मौलिकता पर सन्देह किया गया है और इसे 'आयात-उपन्यास' की संज्ञा दी गई है। क्योंकि आलोचकों का कथन है कि "श्री रेणु ने बड़े ही कौशल से 'भादुड़ी' के 'ढोडाय-चरित मानस' के नीचे का वर्णन रखकर उसका आलेखन किया है। अगर पात्रों के नाम, घटनाओं की तिथि एवं उपशीर्षकों को अलग कर दिया जाय तो 'मैला आँचल' के लिखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।"[१]

'रेणुजी का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' है। इसमें लेखक की आँचलिक प्रतिभा अधिक परिष्कृत दिखाई देती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इन दोनों ने ही उपन्यासों में आँचलिक संस्कृति का ऐतिहासिक विवरण भली प्रकार से प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि 'रेणुजी' ने वहाँ की कथाएँ, नृत्य, उत्सव, जादू-टोने अन्धविश्वासों आदि सभी का समग्र रूप से वर्णन किया है, तथापि आँचलिक संस्कृति के ऐतिहासिक विवरण का पूर्णतः आकलन नहीं हो पाया है। किन्तु यह सत्य है कि स्थानीय बोलियों के प्रयोग में जितनी सफलता इन्होंने प्राप्त की है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

आँचलिक उपन्यास विवेचन में देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके ब्रह्मपुत्र, 'दूधगाछ' तथा 'रथ के पहिये' उपन्यासों में 'ब्रह्मपुत्र एक पूर्ण आँचलिक कृति कहलायी जा सकती है। कथानक के ब्रह्मपुत्र नदी के अंचल पर केन्द्रित कर सत्यार्थीजी ने लोकगीतों तथा लोकभाषा के द्वारा अत्यन्त सजीव वातावरण का निर्माण किया है।

भैरवप्रसाद गुप्त का 'सती मैया का चौरा' एक सुन्दर आँचलिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त शिवप्रसाद रुद्र का 'बहती गंगा' यादवेन्द्रचन्द्र शर्मा का 'खम्भी अन्नदाता' और रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' 'धरती मेरा घर' नामक उपन्यास आँचलिक उपन्यास परम्परा में जुड़ी हुई अत्यन्त सशक्त नवीन कड़ियाँ हैं।

यद्यपि हिन्दी में आँचलिक उपन्यास लेखकों में उत्साह दे रहा है तथा ऐसे उपन्यास एक बड़ी संख्या में दिखाई दे रहे हैं, तथापि इनमें से अधिकांश उपन्यासों को पूर्ण रूप से सफल आँचलिक उपन्यास कहने में संकोच होता है। पश्चिम में विशेष रूप से अमरीकी आँचलिक उपन्यासों में जो सहज प्रवाह एवं अपूर्व मार्मिकता है, उसका हमारे उपन्यासों में अभाव है। वस्तुतः हिन्दी के आँचलिक उपन्यास अभी आँचलिकता की दशा में अग्रसर हो रहे हैं किन्तु उन्हें उस विन्दु तक पहुँचने में अभी समय लगेगा जबकि इन उपन्यासों को अमरीकी आँचलिक कृतियों का समकक्षी होने का गौरव प्राप्त होगा।

—१०४।६ दरियागंज, दिल्ली-६

१ 'हिन्दी के आँचलिक उपन्यास'—लेखक मधुकर गंगाधर, आलोचना जनवरी, पृ० ८३

चित्रलेखा : एक दृष्टि

● डा० शिवबालक शुक्ल

साहित्यकार के भाव, विचार, मान्यताएँ और सिद्धान्त उसकी वाणी के विभिन्न द्वारों, माध्यमों से आते-जाते दिखाई देते हैं। भगवती बाबू ने अपने गीतिनाट्य 'तारा' में जिस दर्शन का समावेश किया था उनके उपन्यासकार ने 'चित्रलेखा' में उसी का पुनराख्यान किया है। तथाकथित औपन्यासिक-तत्वों के अतिरिक्त उपन्यासों की समस्यामूलकता उनकी युगगत आधुनिकता की परिचायिका होती है। आज का कथाकार जीवन की किसी न किसी समस्या का उद्घाटन और उसके समाधान (?) की विचेष्टा करता है, पर तथा अपर जागतिक प्रत्यक्षों को शाश्वत सत्यों का स्वरूप देकर संवेदन-संसृति को व्यापक बनाता है। निःसन्देह 'चित्रलेखा' समस्या-प्रधान उपन्यास है। पाप-पुण्य को नैतिक और दार्शनिक मानकों से हिन्दी-उपन्यासों की परिणि प्रेम की तुला पर प्रथम बार तोलने के विचार से 'चित्रलेखा' 'कनिष्ठकाधिष्ठता' है।

'चित्रलेखा' और पाप-पुण्य की समस्या की चर्चा के साथ अनातोले फ्रान्स की 'थायस' या 'थाया' आलोचकों का ध्यान आकृष्ट क्यों न करती जब प्रमुख प्रश्न उभयनिष्ठ था। और फिर लेखक का सहज शङ्कालु मन अन्यथा समझे जाने के भय से, मुखर हुआ, ''मेरी 'चित्रलेखा' और अनातोले फ्रांस की 'थाया' में उतना ही अन्तर है जितना मुझ में और अनातोले में। 'चित्रलेखा' में एक समस्या है, मानव-जीवन के तथा उसके तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के देखने का मेरा अपना दृष्टिकोण है और मेरी आत्मा का अपना संगीत भी।'' इस वक्तव्य के प्रकाश में सतही विचारक की दृष्टि को 'चित्रलेखा', 'थाया' की प्रतिच्छाया लग सकती है किन्तु उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। वह राम की छाया-जाया सीता नहीं है। वह, वह है, जिस पर 'थाया' ने छाया की है। फ्रांसीय और भारतीय प्रतिभा का सहज उन्मेष दोनों में यथा-स्थान द्रष्टव्य है। वर्माजी न तो नक्काल हैं और न पर पुर-प्रवेश प्रतिमता दोष के अपराधी। 'अपना दृष्टिकोण', 'आत्मा का अपना सङ्गीत भी' गोस्वामीजी के 'क्वचिदन्यतोऽपि' के मेल में है। यह इसलिए कह रहा हूँ कि वे उन मार्क्सवादी और फ्रायडवादी अधिकांश उपन्यासकारों की भाँति नहीं हैं जो पेटू तो हैं किन्तु पाचनशक्ति जिनमें कम है, और जिनकी कृतियों से बाहरी प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। वर्माजी, अनातोले फ्रांस का प्रेरक एवं पोषक-शक्तिवाला प्रभाव आत्मसात् करते हैं और फिर अपने कर्तृत्व तथा शैली-शिल्प द्वारा उच्चादर्श की प्रतिष्ठा के साथ उसका 'सर्वोच्च वांछित रूप' प्रकट करते हैं।[1]

'थाया' और 'चित्रलेखा' की तुलनात्मक विवेचना तो किसी स्वतन्त्र निबन्ध का विषय है, यहाँ समासतः कुछ संकेत अलम् होंगे। दोनों उपन्यासकारों का प्रतिपाद्य एक है। वर्माजी ने तो बाईस परिच्छेदों के अतिरिक्त 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' शीर्षकों में तात्पर्य-निर्णय के हेतु मान्य मीमांसाशात्र के षड्लिंगों[2]

[1] डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री—'हिन्दी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन', पृ० ३०५

[2] उपक्रमोपसहारावभ्यासो पूर्वता फलम्।
अर्थवादोपयत्तीच लिंगम् तात्पर्यनिर्णये।

में से प्रायः इन्हीं संज्ञाओं वाले दो लिंगों की सामग्री देकर 'उपक्रमोपसंहार' की एकता दिखलाई है। पुण्य के सम्बन्ध में, लगता है कि रत्नाम्बर मीमांसा कर चुके चुके हैं तभी विचिकित्सु श्वेतांक पाप के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करते हैं। पाप-पुण्य के इसी प्रश्न पर पुस्तक में विचार और वितर्कों की अपूर्वता के साथ प्रस्तवन हुआ है। उदाहरणार्थ श्वेतांक से बीजगुप्त कहते हैं,—"तुमने जो कुछ किया, वह उचित किया और जो कुछ करते वह भी उचित करते उसमें तुम्हारा दोष न होता।"

और आगे चलकर उसे आश्वस्त किया—"अपराध कर्म में होता है विचार में नहीं।" (परि० ३)

बीजगुप्त ने यशोधरा से कहा था—"हमारे प्रत्येक कार्य में अदृश्य का हाथ है, उसकी इच्छा ही सब कुछ है।" (परि० १३)

सारांश यह कि अनभ्यास, अपूर्वता और अर्थवाद भी पदे-पदे परिलक्षित है। उपपत्ति (प्रतिपाद्य की सिद्धि) के साथ हमारा मतैक्य न हो किन्तु वर्माजी ने अपनी ओर से भरसक प्रयत्न किया है। विज्ञान और मनोविज्ञान के वर्त्तमान उत्थान में प्राक्तन मूल्यों के प्रति पूर्वग्रही हम न बनें तथा रूढ़िवादी जड़ता से निष्कृत हो। यही स्थिति 'थाया' की है। अनातोले फ्रांस के अनुसार—

'Nothing is itself, either virtuous or shameful, just or unjust, pleasant or painful, good or bad. It is our opinion which gives those qualities to things as salt gives savour to meats."

उनके नीसीपाज के विचार पठनीय हैं—

"I believe that men are equally incapable of doing evil or doing good. Good and evil only exist in opinion......."

प्रीतिभोज के दार्शनिक विवाद में व्यक्त यूक्रीटीज का मत देखिए—

"The world is a tragedy by an excellent poet God who composed it and has intended each of us to play a part in it. If he wills that you shall be a beggar, a prince or a cripple, make the best of the part assigned you."

'चित्रलेखा' की प्रागद्धृता पंक्तियाँ आप पढ़ चुके हैं। बिम्बर के शब्द और देखिए—

"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। ···प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनःप्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है। × × जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है। वह परिस्थितियों का दास है। विवश है, वह कर्ता नहीं है। वह केवल साधन मात्र है।"

"केनापि देवेन हृदि संस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" जैसे नियतिवाद की झलक दोनों लेखकों में है। अन्तर यह है कि जहाँ अनातोले फ्रांस ने औपन्यासिक रोचकता की सुरक्षा के हेतु अनेक पात्रों को चुना है। और बात यह है कि कथा के क्षिप्र वेग में प्रतिपाद्य की अपूर्वता इन पात्रों की सहायता से सहज प्रसन्नगति से बहती है, वहाँ वर्माजी ने कलात्मक ढंग से पाठकों को पाप-पुण्य के समझने की छूट न देकर रत्नाम्बर से सारी व्याख्या कराई है, वह भी वदतोव्याघात के साथ।

चित्रलेखा और थाया दोनों रूपगर्विता हैं। चित्रलेखा की असहिष्णुता, तर्कतीक्ष्णता तथा अहमन्यता सामन्त पत्नी को दिये गये प्रतिउत्तर में निहित है—

"अपने सौन्दर्य के बल से अभिमानिनी स्त्रियों को अपना स्वागत करने के लिए बाध्य करने वाली को बधाई की आवश्यकता नहीं।"

और अपने को ऐन्द्रिय आनन्दों या वासना के नरक से मुक्ति दिलाने के इच्छुक पैफ्नूशियस के समक्ष थाया की दर्पस्फीति यों प्रकट है—

"I have shown pleasure in my footsteps and I am celebrated for that all over the

world. I am, more powerful than the masters of the world. × × × Look at me. look at these little feet, thousands of men would pay with their blood for the happiness of kissing them. × × × When I pass in the street I look like a grain of rice but that × × × has caused among men griefs, despairs, hates and crimes enough to have filled tartarus....."

दोनों उपन्यासों की पात्र-योजना में पर्याप्त साम्य है। चित्रलेखा और थाया परिस्थिति-बाध्य नर्तकियाँ हैं। ये यौवनोन्मादिताएँ 'गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवम् नवम्' की दृष्टि से वासना की उपासना करती हैं। चित्रलेखा पति फिर कृष्णादित्य तब बीजगुप्त और कुमारगिरि को प्यार (?) करती है और कला-कुशला थाया लोलियस को प्यार करती है, किन्तु नीसीपाज उसे प्रेम करने का विफल प्रयास करता है। पैप्नूटियस तथा कुमारगिरि में पर्याप्त साम्य है। रत्नाम्बर का प्रतिनिधित्व करने वाले टीमोम्लीज और पेलमैन सदृश कई अनुभव-वरिष्ठ साधु 'थाया' में हैं। परन्तु बीजगुप्त की सर्जना अनातोले से नितान्त पृथक् है, मौलिक है।

बीजगुप्त और चित्रलेखा ने प्रेमपरक जो अभिमत दिये हैं वे बड़े सारगर्भ हैं—

"एक दूसरे के अस्तित्व को एक कर देना ही प्रेम है।" —बीजगुप्त

"प्रेम बलिदान है, आत्मत्याग है, ममत्व विस्मरण है।" चित्रलेखा

चित्रलेखा जब अपनी सम्पत्ति के दान करने के संकल्प से भर जाती है और कहती है—"प्रेम और केवल प्रेम हमारा आधार हो।" तो प्रेम में तितिक्षा, त्याग तथा आत्मविश्वास के दृश्य के साथ पार्थिव प्रेम-शुचिता दिखाई देती है किन्तु पैप्नूटियस तो सूफी कवि जायसी की पद्मिनीगत सौन्दर्य निदर्शना

नैन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर,
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।

के समान थाया की ऊर्ध्वगति पर नवोन्वेष से विस्फूर्जित है—

"She was the beauty of the world and all that drew near to her grew fairer in the reflection of her grace."

लगता है कि पैप्नूटियस के प्रेम-पथिक ने अलौकिक सिद्धि और अपना अभीष्ट प्राप्त कर लिया है और कुमारगिरि को थाया के विरक्त सन्तों की भाँति कोई समझाने वाला नहीं है। वासना के वृत्त पर वह चक्कर लगाता है और आकर्षण-केन्द्र से पूछता है— "देवि चित्रलेखा ! × × × तुम में एक आकर्षण शक्ति है, उस आकर्षण शक्ति को तुमने कहाँ पाया है।" (परि० १६) बीसवें परिच्छेद में वह स्नेह के सन्मार्ग में कूट के कण्टक बिखेर कर चित्रलेखा को अपना बनाना चाहता है—

"उसने अपने जीवन को नष्ट कर दिया—केवल इसलिए कि वह तुमसे प्यार करता था और प्रेम की पवित्रता का अनुभव करता था।"

जिसके हृदय के निवास करने वाली अदृष्ट सत्ता ने कभी उसकी अपनी दुर्बलता के प्रति सावधान किया हो और जो भविष्य में अपने ऊपर विजय पाने का संकल्प कर चुका हो, वही 'वासना का कीड़ा' कुमारगिरि, चित्रलेखा से कहता है—'तुम मुझे डुबाने के लिए आयी हो, मैं भी डूबने को तैयार हूँ × × मेरी आराध्य देवि ! मेरी प्राणेश्वरी ! आज तुम्हारे यौवन के अथाह सागर में डूबने आया हूँ।"

परन्तु कुमारगिरि अपनी प्राणेश्वरी (?) के द्वारा अपने चरित्र का पोस्टमार्टम होते देख अब उसके मुख पर पाशविकता की छाया दिखाकर अपने दम्भ के हेतु पश्चात्ताप और ग्लानि का भाव न प्रकट कर खिसियाई बिल्ली की भाँति खम्भा नोंचने लगता है। कहने को तो वे योग करते थे, चित्तवृत्ति का निरोध करते थे परन्तु वस्तुतः वे आचार्यों के पुनीत व्रत "उन्मानसम्"—मन से ऊँचे उठना को भी न पालन कर सके और न अपने 'सयानप' और बाँकपने के कारण 'सनेह के सूधे मारग' पर चल सके। ऐसे

गैरिकवसन पीतराग-वीतराग नहीं कह रहा हूँ—कुमारगिरियों का समाज में अभाव नहीं और न नित्य नव तल्पाकांक्षिणी चित्रलेखाओं की कमी। किन्तु पैप्नूटियस अपनी प्रिया थाया से प्रेम करने वाले नीशियस को उसी प्रकार प्यार करता है जिस प्रकार ईश्वर, उसके (ईश्वर के अपने) बन्दों को प्यार करने वाले लेहण्ट के अबूबेन अदम को—

"I love thee, Nicias, because thou hast loved her"

सच्चे प्रेम की यही दिव्यता, ईश्वरता है, परानुरक्ति है।

वर्माजी ने पैप्नूटियस के स्थान पर कुमारगिरि और बीजगुप्त की कल्पना की है। योगी भोग से पराभूत और भोगी योगजेता प्रमाणित होता है। पैप्नूटियस पाप को पाप के स्तर से नहीं हटाता, वह स्वीकारता है कि उसने पाप किया है। वह योगी होकर भी भोगलिप्साओं में संक्रमण करता है और थाया नर्तकी होकर तप और त्याग का जीवन बिताती है। 'थाया' में मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य है। 'चित्रलेखा में बहिर्द्वन्द्व की बहुलता है। 'थाया' में धार्मिकता और आध्यात्मिकता के अधरों पर आदर्श की मुसकराहट दिखाई देती है, 'चित्रलेखा' में यथेष्ट के चन्द्रालोक में मानव-मानस में उठने वाले ज्वर का चित्रण है। वर्माजी ने व्यक्ति की ऐकान्तिक सत्ता, अन्तर्मुखी वृत्ति और आन्तरिक प्रेरणा का महत्व उपन्यास-क्षेत्र में आते ही अनुभव किया था। 'चित्रलेखा' में ऐसी झलकियाँ निरन्तर मिलती हैं। चित्रलेखाकार ने उपन्यास में ऐतिहासिक पुट देने की चेष्टा की है। 'चन्द्रगुप्त', चाणक्य आदि पात्रों की चर्चा इसीलिये की गई है। 'थाया' सामाजिक परिवेश में ईसाई अनुगम (The so called christian religion) के आनुगत्य को श्रेयस्कर मानकर लिखी गई है। 'चित्रलेखा' में परिस्थिति बलवती है। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के अनुसार 'नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता के निर्माण' की लालसा है, जो अपूर्ण रहकर भी आनन्ददायिनी है। पाप-पुण्य सम्बन्धी प्रश्न का एक उत्तर तो कठिन है ही अतः इस सम्बन्ध में वर्माजी की उपकल्पना (Hypothesis) का महत्व स्वीकार्य है। 'थाया' में पापी नहीं, पाप घृण्य है' तथा 'प्रायश्चित से पापों का शमन होता है।' ये सिद्धान्त निरूपित हैं। स्पष्ट है कि वर्माजी और अनातोले फ्रान्स के दृष्टिकोण में अन्तर है।

वर्माजी के विचार से "उपन्यास का आधार एक पुष्ट और सुन्दर कहानी हो।"[१] उन्माद और मादकता के सुपुत्र त्याग, संयम के सञ्चित बल-वीर्य से विमण्डित योग तथा भोग-भुक्ता की नित्य नवासक्ति की रजोमयी सन्तति वासना की कथा है 'चित्रलेखा'। और 'पाप' से 'स्टोरी-गत औत्सुक्य, कुतूहल और जिज्ञासा जगती है। लगता है कि 'पुण्य' से सम्बन्ध प्रश्नों की विवेचना हो चुकी है और हमें उसके विरोधी पाप के सम्बन्ध में कुछ सुनने और जानने के लिए उत्कर्ष और उत्सुक बनाया जा रहा है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपकण्ठों को सींचता हुआ चित्रलेखा का जीवन बहता है। उन्माद और मादकता की समानशील मत्री में तब व्याघात पड़ता है जब महाराज चन्द्रगुप्त की सभा में योगी और चित्रलेखा एक दूसरे को मन ही मन परस्पर विजयी मान लेते हैं, यद्यपि चतुर्थ परिच्छेद में इसके पूर्व प्रकाश (योगी), अन्धकार (स्त्री चित्रलेखा) के बीच चोटें हो चुकी थीं। लेखक के बीजगुप्त के अनुसार 'दुर्भाग्यवश दोनों ही एक दूसरे के जीवन में बिना जाने हुए अपनी-अपनी साधनाओं को भ्रष्ट करने के लिए" आ जाते हैं।[२] मानसिक संघर्ष का उपक्रम

[१] साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सितम्बर २०, १९५३

[२] आत्म-सुधार की आंशिक चेष्टाओं के रहते भी मानव बाह्याकर्षणों से सदा प्रभावित होता रहा है। नर-नारी में पारस्परिक आकर्षण इसी दृष्टि से होता है। युग के अनुसार प्रत्येक पुरुष एवं प्रत्येक नारी के अचेतन मन में क्रमशः एक शाश्वत नारी तथा एक शाश्वत पुरुष का चित्र रहता है। अचेतन के तत्त्व चेतन मन के पूरक होते हैं। पुरुष स्त्री की ओर इस

होता है। बीजगुप्त भोगोपरत और कुमारगिरि योग-विरत होते हैं। आगे पात्रों के अन्तर्मन्थन को गति-शील बनाने की योजना कार्यान्वित होती है। चित्र-लेखा और कुमारगिरि दोनों बीजगुप्त को—'मनु-ष्यता को'—अपना शिकार बना रहे हैं। चित्रलेखा त्याग के लिए उद्यत थी और कुमारगिरि सुरक्षा से प्रेरित कूटनीतिज्ञता, दाम्भिकता का परिचय देते हुए चित्रलेखा से बीजगुप्त के सम्बन्ध विच्छेद का औचित्य प्रमाणित कर रहे थे। हाँ तो 'मादकता' और जीवन की हलचल शान्ति पाने के हेतु तत्पर थी और तथा-कथित 'युक्तः'[1] किन्तु 'मिथ्याचारः'[2] की काम-कुण्ठाएँ तथा लैंगिक वर्जनाएँ युगनग्नता के हेतु बद्ध परिकर।

प्रमुख पात्रों के मानस उद्वेलित हैं। कुमारगिरि कृत्रिम अहं की जीवन पेटी (Life-Belt) बाँधकर तितीर्षा को शान्त करना चाहते हैं। किन्तु प्लवनेच्छा (पैरने की इच्छा) वासना-वारिगा में उन्हें डुबो देती है। चित्रलेखा दिनभर की भटकी, सन्ध्या को घर आने के लिये छटपटाती है। लेखक ने एक घटना के माध्यम से मानव की सहज दुर्बलता की ओर संकेत किया है। सारांश यह है कि वर्माजी घटनाओं का समायोजन पात्रों की मर्म पीड़ा के उद्घाटन के लिए करते हैं। काशी यात्रा में साहचर्य-प्रसूत परिस्थिति ने बीजगुप्त के मन को यशोधरा की ऐन्द्रजालिक छवि ने आकृष्ट किया। १९ वें परिच्छेद में बीजगुप्त का अन्तर्द्वन्द्व निरूपित है—"चित्रलेखा गयी—जाये, मैं अपने जीवन को क्यों नष्ट करूँ?" "यशोधरा-यशोधरा! सौन्दर्य में चित्रलेखा से यशोधरा किसी अंशों में कम नहीं। क्या यशोधरा से विवाह करना ही पड़ेगा?" इसी बीच श्वेतांक के हृदय में यशोधरा के प्रति आसक्ति-उदयन हुआ। सम्प्रति उपन्यास के प्रायः सभी पात्र एक विशिष्ट परिस्थिति में पड़े हैं। योगी शीलभ्रष्ट ही नर्तकी को बीजगुप्त से पृथक् रखने के हेतु यशोधरा-बीजगुप्त के विवाह की मिथ्या सूचना देता है और चित्रलेखा पश्चाताप के कारण उसके पास पहुँचने में संकोच करती है। उधर श्वेतांक ने बीजगुप्त के सिर मुड़ाते ही उस पर ओले गिराये। करुणा प्रचेता, मनोजेता बीजगुप्त, श्वेतांक के लिए यशोधरा को त्याग कर ही नहीं, अपनी सम्पत्ति देकर सुखी होता है।

पाठक अभी चित्रलेखा की त्रिशंकु स्थिति के प्रति जिज्ञासु है, कारण कि औपन्यासिक सङ्घर्ष की समाप्ति पर 'उसका क्या हुआ', या 'क्या होना है', उसे अभी नहीं ज्ञात है। नैशान्धकार में बीजगुप्त बाहर जा रहा है, चित्रलेखा का उससे मिलन होता है। दूसरे दिन चित्रलेखा भी समग्र पार्थिव विभव त्यागकर साथ चल पड़ती है, "हम दोनों कितने सुखी हैं," कहते हुए 'हम केवल एक हमीं हैं' का आनन्दानुभव करते हुए त्याग के दो सजीव विग्रह प्रेम का पाथेय लिये हुए जा रहे थे।

स्टोरी और प्लाट का सुन्दर निर्वाह चित्रलेखा में द्रष्टव्य है। वस्तु संघटनागत सूक्ष्मता, वैज्ञानिकता और सांकेतिकता ने एक ओर समस्या को उभारा, निखारा और उजागर किया है तो दूसरी ओर कथा-नक-पुष्टता की रक्षा की है। कथानक और समस्या के समायोजक और समाहारक वर्माजी को 'प्रेमचन्द का संशोधित संस्करण'[1] इसी दृष्टि से कहा गया है।

लिए आकृष्ट होता है कि वह अचेतन मन के माध्यम से Anima शाश्वत नारी का चित्र स्त्री-समाज में परिशीर्ण पाता है और नारी Animus के कारण पुरुष के प्रति आकृष्ट रहती है। प्रभावित व्यक्ति आकर्षण की इस आभ्यान्तरिक प्रेरणा से अनभिज्ञ रह सकता है। कुमारगिरि और चित्रलेखा का पर-स्पराकर्षण इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की संगति में है।

[1] द्रष्टव्य श्रीमद्भगवद्गीता : अध्याय ५ श्लोक २३।

[2] कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते। वही अध्याय ३ श्लोक ६।

[1] डा० देवराज उपाध्याय—टेढ़े मेढ़े रास्ते—एक समीक्षा।

महत्त्वपूर्ण समस्या के विचार से विस्तार और वैशद्य अपेक्षित थे, किन्तु ५००-६०० पृष्ठों को घेर सकने वाली कथा २०० पृष्ठों से भी कम में कह दी गई है। त्याग और दमन की कथा में कला की मूल शर्त—"Nothing unessential"[१] को दृष्टिपथ में रखा गया है। यदि कुमारगिरि ने कुछ इन्द्रियदमन तो बीजगुप्त ने उससे अधिक त्याग किया है और वर्माजी के उपन्यासकार ने He (The artist) must omit what is tedious or irregular and supress what is tedious and necessary.

—(R. L. Stevension)

के अनुसार Omission तथा supression की कला अपनाई है।

पात्रों के शील पर यदा-कदा अनुषंगतः पीछे दृष्टि पड़ चुकी है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथा की भाँति पात्रों के भी दो वर्ग हैं। मुख्य कथा से सम्बद्ध प्रमुख पात्र तीन हैं—बीजगुप्त, कुमारगिरि तथा चित्रलेखा। रत्नाम्बर, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, मृत्युञ्जय, विशालदेव, श्वेतांग और यशोधरा आदि गौण पात्र हैं। उपन्यासकार ने घटनाओं का संगुम्फन इस कौशल के साथ किया है कि प्रत्येक पात्र के चरित्र का विश्लेषण होता गया है।

वर्माजी की चारित्र्य-सृष्टि पर विचार करने के हेतु प्रत्येक पात्र के चरित्र की शल्यक्रिया करना यहाँ अपेक्षित नहीं है पर कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का उल्लेख समीचीन होगा। प्रायः कथात्मक साहित्य में नायक खलनायक, नायिका आदि पात्रों का समावेश रहता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार आर्नल्ड बैनेट की 'Old Wives Tale' में पात्रों के रहते जैसे 'Time और Destiny' को हीरो माना गया है, निश्चय ही चित्रलेखा में वर्माजी परिस्थिति और नियति को वैसे ही स्वीकारते हैं। अमरीकी औपन्यासिक हेनरी जेम्स ने तुर्गनेव की शील निदर्शन शैली के सम्बन्ध में कहा था—"उसे प्रत्येक पात्र पर उतना ही ध्यान रखना पड़ता था जितना पुलिस विभाग के एक कर्मचारी को किसी अपराधी के कार्य पर करना पड़ता है। पात्रों से सम्बन्धित घटनाएँ उनके चरित्र पर ही निर्भर रहीं।" और वर्माजी के सम्बन्ध में निर्द्वन्द्वता-पुरस्सर कहा जा सकता है कि वे पात्रों के साथ मनमाना व्यवहार करते हैं। सन्तान पर कठोर नियन्त्रण रखने वाले पिता की भाँति आत्मविकास का अवसर पात्रों को न देकर वे नियति का चक्र चलाते हैं जिस पर सिद्धान्तदेही पात्र यदृच्छया उतरते रहते हैं। योगी कुमारगिरि चन्द्रगुप्त सभा में सभी को अपनी योगमाया से विस्मित करता है किंतु चाणक्य और चित्रलेखा उसके प्रभाव से अस्पृष्ट रहते हैं। दसवें परिच्छेद में जब रत्नाम्बर के अतिरिक्त कथा से सम्बद्ध सभी पात्र मृत्युञ्जय के यहाँ एकत्र हैं, वर्माजी झोंक में लिख गये—"मृत्युञ्जय के भावों की थाह प्रायः सब व्यक्तियों ने पा ली थी।" परन्तु 'जीवन हीन आकर्षण' विशेषण से युक्त यशोधरा के सम्बन्ध में यह लिखना कि 'एक यशोधरा ही ऐसी थी, जो न कुछ अनुभव करती थी, न कुछ जानती थी और न कुछ समझती थी। उसने मृत्युञ्जय से कहा, पिताजी रात्रि अधिक बीत गयी है।' कैशोर्य-वनिका में वसन्त आये और मतवाली कोकिलाएँ न बोलें, अलसाई कलियाँ आँखें न खोलें, असम्भव। प्रकृति के सम्बन्ध में बीजगुप्त के विचार सुनकर वह इतनी विस्मयाभिभूत है कि उसे मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित बौद्धिक स्तरीय श्रेणी में 'मिडियाकर' से नीचे 'ईडियट' कहा जा सकता है। फिर चौदहवें अध्याय में वह श्वेतांक से कहती है कि 'वह बीजगुप्त से प्रेम न करती थी।' फिर भी श्वेतांक द्वारा अपने प्रति प्रेम प्रकट करके क्षमा माँगने पर वह इतना कहती है—"जीवन में ऐसी बातें तो नित्यप्रति हुआ करती हैं, कहाँ तक क्षमा याचना करते फिरोगे?"

वर्माजी का पात्र को अपने ही साँचे में ढालने का यह निजी ढंग है। विशालदेव सब कुछ समझकर भी

[१] Miriam Allott द्वारा सम्पादित 'Novelists on the Novel' में उद्धृत Andre Gide का मत।

कुमारगिरि की प्रशंसा करता है और बीजगुप्त की निन्दा। पाठकों की सारी सहानुभूति बीजगुप्त को प्राप्त है और उनका आक्रोश और वितृष्णा योगी के बाँट पड़ी है। परन्तु विशालदेव के निर्णय के अनुसार 'कुमारगिरि अजित है।' 'बीजगुप्त वासना का दास है।' यशोधरा और विशालदेव को जीवन के प्रति आँख मूँदने वाले पात्र (Brummel) बनाकर वर्माजी ने न्याय नहीं किया। यद्यपि यशोधरा का पदार्पण बीजगुप्त, श्वेतांक और कुमारगिरि के आंतरिक जीवन में एक घटना है। अतिरिक्त चरित्रों की इस दयनीय दशा को छोड़ दीजिए, परन्तु कुमारगिरि और बीजगुप्त जैसे प्रधान पात्रों से, पृष्ठ खुलते ही पाठक का परिचय उद्वेगजनक है। परिस्थिति-नियति, पाप-पुण्य, ममत्व-अहं पर प्रत्येक पात्र से वर्माजी कुछ न कुछ कहलाते हैं। दर्शन की यह आन्तरिकता पात्र की चारित्रिक स्वभाविकता को धक्का पहुँचाती है।

सामान्यतः मानव-चरित्र को हिमनद (ग्लैशियर) से उपमित किया जाता है।[१] हिमनद का $^{९}/_{१०}$ भाग जल-मग्न रहता है और $^{१}/_{१०}$ जल के ऊपर। वर्माजी अव्यक्त अंश की सरलता-तिग्मता पर दृष्टि डालते चलते हैं। रूपगर्विता चित्रलेखा के अनुभाव-परिवर्तन और भाव-शान्ति (नवां परि०) का दृश्य स्मृतव्य है। नर्तकी की बात पर सम्भ्रान्त नारियाँ एक दूसरे की ओर देख रही थीं। बीजगुप्त को शंका थी कि चित्रलेखा कहीं अनादृत न हो जाय? उसके 'क्या बात है?' के उत्तर में, 'लाल मुख एकदम शान्त हो गया', 'कुछ नहीं आपस में हँसी हो रही थी।' लोक व्यवहार-कुशलता और उसके प्रकृत नर्तकी रूप की अभिनय पटुता देखते बनती है। नर्तकी योगी को मूर्ख कहती है, सुन्दर बताती है। उसके प्रति उसकी ललक है और साथ ही बीजगुप्त की भावना के तोष के लिए कहती है—"चित्रलेखा का प्रेम सागर की भाँति गम्भीर है।" चरित्र रूपी हिम-नद के $^{९}/_{१०}$ पर वर्माजी का ध्यान सदा रहता है। वे रिचर्डसन की चित्रण शैली अपनाते हुए डायल पर लिखित अंकों और घड़ी की सुइयों द्वारा मात्र समय की सूचना ही नहीं देते, वरन् पात्रगत आन्तरिक वैशिष्ट्य को दिखा कर घड़ी के भीतरी कलपुर्जों के क्रियाकलाप को स्पष्ट कर देते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के हेतु चित्रलेखा की चित्तवृत्तियों का रसात्मक विश्लेषण आवश्यक है।

चित्रलेखा के रति स्थायीभाव का आलम्बन है बीजगुप्त। "कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है", ऐसी मानसिक गिरा में रति ने स्थायित्व के स्थान पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप दिखाया था। आप कहेंगे, 'यह विरोधाभास कैसा?' वस्तुतः यह वृत्ति उसके चरित्र की बाइरनिज्म (बाइरन किसी भी रूपगर्विता के अहं निवारण के हेतु ही उससे सम्बन्ध जोड़ता था, उसके दर्प-खर्वण पर वह उसकी चिन्ता न करता था।) की परिचायिका है। उसे अपनी अस्मिता का गहरा मोह है। कला, वय और रूपोन्माद के कारण वह अपने भावों के वास्तविक स्वरूप को भी नहीं समझ पाती। योगी के प्रति उसकी क्षणिक रति वह संचारी है, जो परासीमा के भोग से उत्पन्न निर्वेद और प्रकृति एवं परिस्थिति जन्य मद, मोह तथा गर्व आदि को क्रोडस्थ रखने वाली ईर्ष्या से प्रादुर्भूत जुगुप्सा का अंग है, सहायक है। चित्रलेखा के हृदय में ईर्ष्या के कारण असहिष्णुता है और जब वह अपने कवित्वमय सौन्दर्य से गिरि 'कुमार' को स्पन्दित कर देती है तो उसे अपनी अस्थायी रति का ज्ञान होता है। निःसन्देह, डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में 'यौवन के प्रत्येक स्पन्दन को ग्रहण करने, उसे स्वर देने की लालसा इनमें (वर्माजी में) प्रबल है।'

'चित्रलेखा' के संवादों का यत्किञ्चित् आभास ऊपर मिल चुका है। यहाँ उल्लेख्य यह है कि उपन्यासों में वर्माजी की वृत्ति नाटकीय शैली में ही रहती है। किन्तु समस्या प्रधान 'चित्रलेखा' में जहाँ पात्रों के लिये सामान्यतः ममत्व-परत्व, प्रकृति-नियति प्रेम-त्याग, भोग-योग और धर्म-नैतिकता विशेषतः पाप-पुण्य परक प्रश्न विचाय और विवेच्य रहे हैं

[१] डॉ० रणवीर रांग्रा : हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास।

वहाँ पर कथा में गत्यवरोध आ जाता है। हम वक्ता के तर्क नैपुण्य, दार्शनिक दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक मीमांसा पर तो लुब्ध होते हैं किन्तु कथानक को लगे हुए झटके के कारण कभी-कभी एक दम हिल-डुल जाते हैं। 'कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, जो दूसरे व्यक्तित्व को आकर्षित करके उसको दबा देते हैं और उसको अपना दास बना लेते हैं। चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था।' फिर संवादों में, जैसा प्राय: एक पात्र अपनी सारी भावनिधि खोल देता है, वैसा भी नहीं होता, लेखक को अपनी ओर से टिप्पणियों के रूप में कुछ वाक्य जोड़ने पड़ते हैं। हाँ जहाँ पर व्यंग्य के धनी वर्माजी छोटे-छोटे कथोपकथनों का प्रयोग करते हैं वहां उत्तर प्रति उत्तरों से वक्ता, श्रोता तिलमिला उठते हैं। कुमारगिरि-चित्रलेखा, चित्रलेखा सामन्त पत्नी के बीच कथोपकथन इसके प्रमाण हैं।

निःसन्देह यत्र-तत्र शिष्टाचारात्मक वार्त्तालाप में एक पात्र विशेष के जीवन की भावी घटनाओं की ओर अनजाने संकेत करते हुए घोर प्रहार करता है—

"भूले हुए पथिक रात्रि भर के लिए आश्रय चाहते हैं।........" बीजगुप्त

"उनका स्वागत है, मेरी कुटी प्रत्येक भूले हुए प्राणी के लिये खुली है।"

"अतिथि ! तुमने मुझसे पहले ही क्यों नहीं बताया कि तुम्हारे साथ एक स्त्री भी है। तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि यह उस योगी की कुटी है जो संसार छोड़ चुका है।"—कुमारगिरि

'भगवन् मुझे यह तो ज्ञात है कि यह एक जोगी की कुटी है पर यह नहीं सोचा था कि एक इंद्रियजित योगी को केवल रात्रि भर के लिए एक स्त्री को, और उस स्त्री को, जो एक पुरुष के साथ है, आश्रय देने में संकोच होगा।"—बीजगुप्त

कुमारगिरि यदि संयम और मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण न करने वाले और सामान्य रीति से मार्ग भूल जाने वाले बीजगुप्त को जीवन-मार्ग का भूला हुआ प्राणी समझकर 'भूले हुए' कहकर हँसते हैं तो बीजगुप्त 'इन्द्रियजित' विशेषण द्वारा उसी स्वर में उन्हें उत्तर देते हैं।

दो ऐतिहासिक नामों के उल्लेख पर भी 'चित्रलेखा' पर इतिहास की प्रति सीरा तो नहीं पड़ सकी है, हाँ उसे अतीत संस्कृति से सम्बद्ध दिखाकर वर्मा जी ने अपनी भाषा को मौर्ययुगानुरूपिणी संस्कृतनिष्ठ रखा है। हाँ 'चित्रलेखा' में देशकाल की सीमाओं से परे विश्व-मानव के मनमें उठने वाला पाप-पुण्य परक प्रश्न ही प्रमेय है। अतः उसकी शैली में दार्शनिक दुरूहता और तार्किकता विद्यमान है। परन्तु क्योंकि 'चित्रलेखा' प्रसुमन काल के उस कवि उपन्यासकार की कृति है जिसकी भावना की क्षितिज पटी पर हालावाद की पार्थिव मादकता तथा छायावाद के रोमानी कल्पना वैभव का मिलन स्वाभाविक था। वैचारिकता और चिन्तना की बात जानें भी दें तो भी उनकी भाषा में उनके कवि की आत्मा का संगीत पग-पग पर सुनाई देता है। कवित्वपूर्ण, अलंकारमयी भाषा का एक उदाहरण लीजिये—

"उस समय उसके सौन्दर्य में अभूतपूर्व आकर्षण था। उसका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति था और उसकी लहराती हुई वेणी नाग की भांति थी जो विष से त्रस्त होकर चन्द्रमा से उसका अमृत छीनने को उससे लिपट गया हो।[१] उसकी वेणी में गुँथे हुए मुक्ताजाल इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानो चन्द्रमा को संकट में देखकर तारावलि पंक्ति में बँधकर काले नाग से भिड गई हो।[२] (परि० ५)

इस भाषा में पुराने चावलों की सुरभि है, स्वाद

---

१ चिक्कन कुटिल अलक अवली छवि
कहि न जाइ सोभा अनूप वर।
बाल भुवंगिनि-निकर मनहुँ मिलि
रहीं घेरि रस जानि सुधाधर॥
—कवितावली

२ कै निज नायक बँध्यौ बिलोकत व्याल-पास तैं।
तारनि की सेना उदण्ड उतरति अकास थैं।
—गंगावतरण

है। तुलसी और रत्नाकर का—प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जो सही—प्रभाव है।

मात्रा और अनुपात का ध्यान रखने वाले लेखक का शारीरिक सौन्दर्य-बोध भाषा की सहज प्रसन्नता में परिलक्षित है।

"उसके शान्त मुखमण्डल पर भोलापन अपना अधिपत्य जमाये हुए था, उसकी हँसी की सुरीली झंकार में यौवन से पराजित बचपन ने शरण ली थी। हरिणी सी सुन्दर बड़ी-बड़ी आँखों में संकोच था और उसके रसयुक्त अरुण कपोलों में लज्जा थी। यशोधरा का यौवन सुधा और उल्लास का मिश्रण था। उसमें गर्व की उच्छृङ्खलता न थी। उसमें लज्जा की शान्ति थी। (परि० ६)

जीवन के महत् सत्य को प्रकट करने वाले, सर्व-साधारण के लिए महत्त्वपूर्ण प्रज्ञासूत्रों, व्यवहारसूत्रों का तो 'चित्रलेखा' में जाल बिछा हुआ है—

१—"ममत्व का विस्मरण बड़ा दुःसाध्य कार्य है।"

२—"अपनी निर्बलता पर विजय पाना ही तो सबसे बड़ी साधना है। जब तक तुम स्वयं अपने को नहीं जीत लेते, तब तक तुम अपूर्ण हो।"

३—"प्रेम स्वयं एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है।"

इन प्रज्ञासूत्रों के बाद दो मर्मोक्तियाँ देखिए। यह प्रश्नोत्तरी गहराई से विचारणीय है—

"जीवन का सुख क्या है?"

"मस्ती।"

"यौवन का अन्त क्या होगा?"

"जीवित मृत्यु!"

"यौवन का अन्त है एक अज्ञात अन्धकार।"

कहीं-कहीं उर्दू के शब्दों 'होश आया', 'वाक्य तीर की भाँति पैना तथा घातक था' का प्रयोग है। वर्माजी ने कहीं-कहीं भाषा की त्रुटियाँ तो नहीं, भूलें भी की हैं। जैसे—

"हमारे प्रत्येक कार्य में अदृश्य (?) का हाथ है।" (परि० १२)

'प्रेम में त्याग की आवश्यकता होती है उसी त्याग को कर रही हूँ।" (परि० १३)

उसी के स्थान पर 'वही' लिखने तथा 'को' को हटा देने पर भाषा की गाड़ी पटरी पर शान्तिपूर्वक चलती दिखाई देती है।

निःसन्देह 'चित्रलेखा' एक सुन्दर कला-सर्जना है। उसकी ऐसी भूलें उपन्यास की अपकर्षिका न होकर उसके भाषा-शिल्प को आकर्षक बनाती हैं।

—के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद
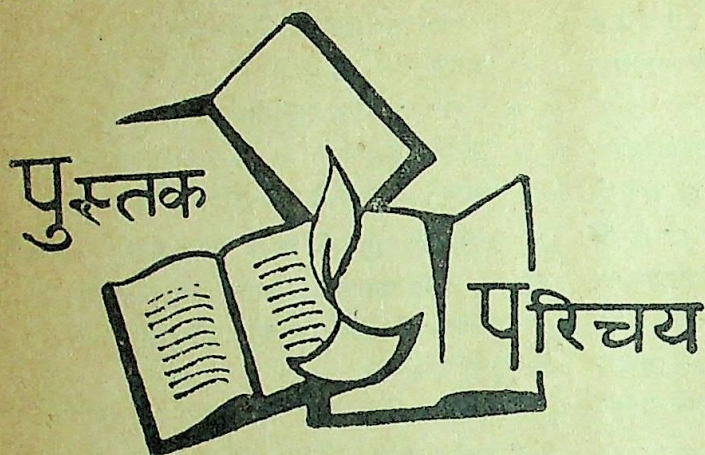
समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आनी चाहिये

उपन्यास

लाल घूंघट वाला मुखड़ा—

ले० अमृतलाल नागर–प्रका०–राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, पृ० १५६ मू० ४.५०

ऐतिहासिक धरातल पर लिखा गया यह उपन्यास आदि से अन्त तक सदैव रहस्यपूर्ण ही बना रहता है। बेगम समरू का चरित्र अपने नारी-जीवन की ऊहा-पोहों से संपृक्त होता हुआ भी प्रेम से परिपूर्ण है। उपन्यासकार ने घटनाओं एवं चित्रों के वर्णन करते समय तत्कालीन युग की झलक देने का प्रयास किया है। और यही इस उपन्यास की सजीवता एवं प्राण है। इसमें पाठक को उस समय के क्रिया-कलाओं का काल्पनिक अनुभव प्राप्त होता रहता है। उपन्यासकार ने बेगम समरू के चरित्र को चित्रित करने में जितनी दक्षता दिखाई है यदि उतनी सामाजिक रूढ़ियों एवं दुर्बलताओं को दूर करके ऐतिहासिक धरातल को स्वच्छ करने का प्रयास किया होता तो निश्चय ही यह उपन्यास उसकी अनोखी कृति होती फिर भी उपन्यास में स्थल-स्थल पर रोमांस, दिलेरी तथा कौतूहल सहज ही मिल जाता है और यही आज के पाठक की अविकल माँग है।

न आने वाला कल—

ले० मोहन राकेश, प्रका०–राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, पृ० २०७, मू० ६.००

यह उपन्यास अपनी शैलीगत विशेषताओं को लेकर पाठकों के समक्ष आता है। लेखक ने एक सामूहिक जीवन की परिकल्पना कर स्वार्थ के ओट में सभी को तार-तार विच्छिन्न कर रखा है जैसे कोई एक डोरा कपड़ा नहीं कहा जा सकता पर कई डोरे एक साथ नियमपूर्वक गूंथ दिये जाएँ तो वही एक सुन्दर कपड़ा बन जायगा। सामूहिक एवं एकाकी महत्त्व को समझाते हुए लेखक ने एक रम्य भविष्य की कल्पना की है। इसी कल्पना में एक कहानी भी है और सम्पूर्ण उपन्यास। घटनाओं के तालमेल का तथा संयोजना के गठन का सुन्दर पिष्टपेषण इस कृति में देखने को मिलता है।

मन्टो मिला था—

ले०–दुर्गादत्त त्रिपाठी, प्रका०–मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद, पृ० १३६, मू० ३.५०

समालोच्य उपन्यास उर्दू लेखक मन्टो की स्मृति को पृष्ठभूमि में रखकर लिखा गया है। लेखक मन्टो से अधिक प्रभावित तथा प्रेरित सा जान पड़ता है।

पूरे उपन्यास में उर्दू शब्दों एवं पात्रों की अधिकता है। इस्लामी कथानक एवं परिवेश में उपन्यास लिखने के कारण पाठकों को उसका यथेष्ट परिचय मिल जाता है। वैसे उपन्यास रोचक एवं मनोरंजन प्रधान है।

फूल और काँटे—

लेखिका—सावित्री देवी वर्मा, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली-६, पृ० ९१ मू० ३.५०

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने समाज की एक कुत्सित समस्या को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। भिक्षावृत्ति आज की सबसे प्रबल समस्या है। छोटे-छोटे निरीह बच्चे एवं अनाथ बच्चे समय एवं परिस्थिति के कारण भिखमंगे बन जाते हैं। पर इस उपन्यास में इस समस्या को सुधारा गया है। किशोर वय के बालकों के लिये यह उपन्यास अपनी रुचि के अनुकूल है। वे चाहें तो इस समस्या को दूर करने में पर्याप्त मदद दे सकते हैं। उपन्यास रोचक एवं सामाजिक है।

—अनिलकुमार उपाध्याय

गद्यकाव्य

अन्तरिक्ष --

ले०—ब्रह्मदेव, प्रका०—सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट प्लेस, नई दिल्ली, पृ० ६०, मू० ३.००

चित्रकार ब्रह्मदेव की यह कृति जीवन के उन पहलुओं पर विचार करती है जिस पर दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा तात्विक चिन्तन किया करते हैं। अनुभूति, मनन एवं आकलन ये तीन ही इसके माप-दण्ड हैं जिनके सहारे कवि सोचता है तथा अन्तरिक्ष की यात्रा का साहस भी करता है। जीवन को अलौकिक तत्त्व तथा चेतना से मिला देने का प्रयास इस पुस्तक में हुआ है। स्थल-स्थल पर चित्रों के दे दिये जाने से उसकी चारुता द्विगुणित हो जाती है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत उचित तरीके से लिखी गई है तथा उसका प्रस्तुतीकरण अनोखा है।

जीवनी

गांधीजी का जीवन प्रभात—

संग्राहक—अशोक, प्रका०—सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट प्लेस, नई दिल्ली, पृ० ७२, मू० १.००

प्रस्तुत पुस्तक गांधीजी की आत्मकथा से उद्धृत करके लिखी गई है। गांधीजी के जन्म से लेकर अफ्रीका यात्रा तक का हाल है। भाषा बड़ी ही सरल तथा लुभावनी है जिसे साक्षर तक पढ़ और समझ सकते हैं। इस पुस्तक से गांधीजी का वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का सन्तोषजनक विवरण प्राप्त हो जाता है। पूज्य बापू के जीवन को समझने के लिये प्रस्तुत पुस्तक पठनीय है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर—

ले०—विनय घोष, अनु०—देवीशंकर अवस्थी, प्रका०—प्रकाशन विभाग. सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-१ पृ० १६४, मू० २.००

'आधुनिक भारत के निर्माता' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। मूल पुस्तक बंगला भाषा में है, यह उसका अनुवाद है। फिर भी इस पुस्तक के अनुवाद में मूल की-सी शैली मिलती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक उत्कट समाज सुधारक तथा नेता थे। उन्होंने भारत की जनता का उद्बोधन किया है तथा उन्हें भाई-चारे के साथ रहना सिखाया। सबसे बड़ी बात स्वावलम्बन एवं पुरुषार्थ करने की प्रेरणा उनसे ही मिली है अतएव उनके समग्र जीवन को समझने तथा विचारों के अनुकूल मार्ग ग्रहण करने के लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है।

दिव्य जीवन की झाँकियाँ—

ले०—यशपाल जैन, प्रका०—सस्ता साहित्य मण्डल कनाट प्लेस, नई दिल्ली, पृ० १३४, मू० ३.००

नैतिक उत्थान की इस पुस्तक में कुछ प्रेरक, कुछ स्मरणीय और कुछ उद्बोधक घटनाएँ संग्रहीत है। इन सबके पढ़ने से मानव-जीवन में एक प्रकार से मोड़ आता है और कुछ बुराई हटती हैं तथा अच्छाई घर करती हैं, जीवन में जाने के लिये प्रेरणा मिलती है तथा कार्य करने को प्रोत्साहन। इन दृष्टियों से इस पुस्तक की सभी घटनाएँ शिक्षाप्रद तथा अनुकरणीय हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इनका अपना निजी स्थान तथा महत्त्व रखता है।

स्फुट

महान प्रेमी और उनकी प्रेमिकाएँ—

लेखक—इलाचन्द्र जोशी, प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—६ । पृ. १६२, मू. ४.५०

प्रस्तुत पुस्तक में विश्व के कुछेक प्रसिद्ध विचारक, साहित्यकार, राजनेता एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की प्रेम सम्बन्धी गुप्त बातों का कथानक के रूप में वर्णन है। ये प्रेम कहानियाँ जहाँ उनके जीवन के प्रेममय क्षणों को उद्घाटित करती है वहाँ घटनाओं के सत्यासत्य का भी पता चलता है। मानव जीवन प्रेम के भावों में बहता रहता है इसमें से बहुत सी उपलब्धियाँ साहित्य, समाज, राजनीति एवं राष्ट्र को प्राप्त होती हैं। ये प्रेमी उन्हीं प्रेरणाओं के बल से अपने ज्ञान एवं अनुभवों को आगामी पीढ़ी को यथा रूप में प्रदत्त करते हैं। इसलिए इन प्रेम-कहानियों एवं घटनाओं का अपना अनुपम स्थान है। प्रेम भावनाओं एवं सरस जीवन के लिए ये उपयोगी घटनाएँ हैं।

—कामता गुप्त कमलेश

योजना के पन्द्रह साल—

प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, सूचना तथा प्रसारण मन्त्रालय भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली-६ पृ० ६२, मू० ३.००

प्रस्तुत पुस्तक में स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत की प्रगति एवं उन्नति की चित्रावली दी गई है। इससे प्रत्येक नागरिक एवं पाठक को अपने देश में हुए कार्यों की एक सचित्र झाँकी देखने को मिल जाती है जिससे वह सहज ही अनुमान लगा सकता है कि देश ने अब तक कितनी प्रगति की और उनकी दिशाएँ क्या-क्या हैं? इस दृष्टि से पुस्तक बड़ी ही सुन्दर एवं उपादेय है।

चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रति दृष्टिकोण—

प्रका०— प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली—१ । पृ० ३६, मू० ३५ पैसे ।

इस छोटी सी विवरण पुस्तिका में चौथी पंच वर्षीय योजना के कार्यों की रूपरेखा, भविष्य तथा महत्त्व आदि की योजनाबद्ध सूचना दी गई है। चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक प्रारूप को समझने के लिए पुस्तिका उपयोगी है।

विविध

गरीब की पुकार—

ले०—सुरेशराम भाई, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट, दिल्ली—६ । पृ० १५८, मू० २.००

समीक्ष्य पुस्तक गांधी शतवार्षिक प्रकाशन के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी है। लेखक प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक एवं नेता है। उन्होंने गांधीजी को बहुत ही पास से निरखा है तथा अपने को उसमें पूर्णतया खपा दिया है। एतदर्थ उनके सोचने-समझने लिखने आदि सभी के ढंग गांधीमय हैं। गरीब की पुकार में आधुनिक जीवन एवं वैज्ञानिक जीवन की उपलब्धियों से तुलना करते हुए गांधी मार्ग का सुझाव है। आज का समस्त मानव समाज अपने को समृद्ध तथा सम्पन्न बनाना चाहता है। इसके लिए उसे गांधीजी के विचारों से ही आत्म-शान्ति मिलेगी। हिंसा आदि कुप्रवृत्तियों से यह शान्ति सम्भव नहीं। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत पुस्तक का अपना निजी महत्त्व है।

परिवार-चिकित्सा—

ले०— डा० युद्धवीरसिंह, प्रका०—राजपाल एण्ड-सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—६ । पृ० १४७, मू० ३.५०

प्रस्तुत पुस्तक में होमियोपैथी द्वारा सरल चिकित्सा का ढंग बताया गया है। होमियोपैथी की औषधियाँ जहाँ अत्यधिक सस्ती हैं वहाँ उनका प्रभाव भी बहुत ही सन्तोषजनक होता है। यदि डा० ने रोग की अच्छी तरह पहचान करके उचित दवा दे दी हो। आज के मँहगाई के युग में होमियोपैथी की दवाएँ गरीबों के लिए रामबाण हैं। प्रस्तुत पुस्तक में डा० युद्धवीरसिंह ने होमियोपैथी को समझाते हुए तमाम तरह के रोगों की दवाएँ और उनके प्रयोग की विधि बताई हैं। एतदर्थ यह पुस्तक प्रत्येक परिवार में रखने योग्य है।

—कमलेन्दु जैन

भारतेन्दु जैन द्वारा साहित्य प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य रत्न भण्डार, आगरा से प्रकाशित

साहित्य सन्देश

[आलोचना मासिक]

संयुक्तांक

सितम्बर-अक्टूबर १९६८

प्रकाशक :
साहित्य रत्न भण्डार, आगरा-२

वार्षिक मूल्य ६-०० रु०

इस अङ्क का मूल्य १-०० रु०

संयुक्तांक

सितम्बर-अक्टूबर १९६८

विषय-सूची—

[आलोचना मासिक]

भाग—३० अङ्क—३-४

सम्पादक
महेन्द्र

सहायक
कामतागुप्त 'कमलेश'

प्रबन्ध सम्पादक
कमलेन्दु जैन

सितम्बर-अक्टूबर—१९६८

मूल्य

आजीवन	१००.००
एक वर्ष का	६.००
दो वर्ष का	११.००
तीन वर्ष का	१५.००
एक अंक का	.६०
इस अङ्क का	१.००

हमारी विचारधारा

विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों के कार्यालयों की भाषा—

आज का समय, हिन्दी प्रतिष्ठापन के लिए अपना सारा श्रम एवं अध्यवसाय इसी ओर लगा रहा है पर बड़ी व्रीड़ा का विषय है कि हमारे विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग इस ओर से पूर्णतया उपेक्षित से हैं जैसे इनके कान में जूं तक नहीं रेंगती। विज्ञान, तकनीकी, वाणिज्य, कानून आदि में हिन्दी का प्रयोग यथा प्रयास पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। उसके कार्यकर्त्ता तथा अधिकारी इस ओर दत्त-चित्त हो लगे हैं। विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग जोकि हिन्दी के प्रचार-प्रसार में अपना सानी नहीं रखते पर जहाँ बाह्य रूपरेखा हिन्दी की है, वहाँ उसके कार्यालयों की भाषा अब तक अंग्रेजी ही बनी हुई है। उसके सभी कार्य अंग्रेजी के बिना चल ही नहीं सकते। कार्यालय में प्रविष्ट करते ही अंग्रेजी के सूचना-पटों से स्वागत होता है। शिक्षा का माध्यम जहाँ पूर्णरूपेण हिन्दी हो, अथवा हिन्दी होने के समीप हो, वहाँ इस तरह का अँग्रेजियत से नाता बनाए रखना उचित नहीं।

हिन्दी विभागों के कोई-कोई अध्यापक ही नहीं, उनके वरिष्ठ प्राध्यापक तक अपने हस्ताक्षर अंग्रेजी में करके अपने नाम एवं पद की मुहर अंग्रेजी में लगाते हैं। हमें खेद है कि बाहर नहीं स्वयं हमारे नगर में ही ऐसे महारथी हैं जो पीठाध्यक्ष होकर भी हिन्दी को पीठ दिखाते हैं। यही क्यों, कभी-कभी तो ऐसा भी देखने को मिला करता है कि विद्यालय और पद के नाम की मुहर भी हिन्दी में है किन्तु हस्ताक्षर अंग्रेजी में हैं या हस्ताक्षर हिन्दी में हैं तो विद्यालय, विभाग तथा पद की मुहर अंग्रेजी में है। इससे प्रमाणित होता है कि अंग्रेजी किसी न किसी रूप में अभी तक वहाँ जमी हुई है। यहाँ तक ही नहीं छोटी-छोटी सामान्य सूचनाएँ तक भी अंग्रेजी में ही प्रसारित की जाती हैं। सूचना-पट्ट तक अंग्रेजी का बाना पहने रहते हैं। विद्यार्थी समाज जोकि हिन्दी अध्ययन के लिए इन विभागों में आता है, उसे सर्वप्रथम अंग्रेजी से ही टक्कर लेनी पड़ती है।

कार्यालयों का अल्प शिक्षित लिपिक वर्ग तो ऐसा अंग्रेजी दाँ होता है मानो सद्यः ब्रिटेन से आया हो। पर उनकी अंग्रेजी तो ऐसी होती है जोकि एकमात्र उनके अधिकारी वर्ग ही समझ पाते हैं या वे स्वयं,

भलतः मिल्टन एवं शेक्सपियर भी उनके शिष्य प्रतीत होते हैं। इस तरह हिन्दी-विभागों में 'खग जाने खग ही की भाषा' की उक्ति पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। हिन्दी के नाम पर उदर-पोषण करने वाले ये लोग बाहर से कितने ही भोले-भाले लगते हैं किन्तु अन्दर से उनके भीतर ऐसी विषैली भावना निवास करती है जो हिन्दी हित को समाप्त कर रही है।

इस तरह हिन्दी विभागों की भाषा को देखते हुए ऐसा विश्वास सहज ही हो जाता है कि यथार्थ में हिन्दी के विरोधी ये ही हिन्दी के मठाधीश हैं जो कि अपने नामों के आगे बड़ी-बड़ी पदवी लगाए हुए पर्यटन कर रहे हैं और संगीत ब्रिटेन का गा रहे हैं। 'वीणा वादिनि वर दे'—उनकी कुर्सी सलामत रहे।

१९७३ तक हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्रारम्भ—

राज्यमन्त्री श्री भगवत झा आजाद ने विभिन्न विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों से आग्रह किया है कि वे १९७३ तक विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं के माध्यम से आध्यापन प्रारम्भ कर दें। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार भारतीय भाषाएँ अपनाने के लिए दृढ़ संकल्प है और वह चाहती है कि योजनाबद्ध रूप से शिक्षा का माध्यम परिवर्तन कम-से कम समय में हो जाय। इस समय हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक तैयार करने के लिए सभी हिन्दी भाषी राज्यों में स्वायत्त संगठन बना लिए गए हैं। और जहाँ नहीं हो सके हैं, वहाँ शीघ्र ही बनाने की योजना है। राजस्थान और बिहार की राज्य सरकारों को तो इस कार्य के लिए पाँच-पाँच लाख रुपये का अनुदान भी प्रदान किया जा चुका है।

श्री झा ने उपकुलपतियों को आश्वासन दिया है कि रुपये की कमी से इस कार्य में बाधा नहीं होगी। उन्होंने उपकुलपतियों को समन्वय-समिति की गत बैठक में किए गए निर्णय को स्मरण कराया और कहा कि शिक्षा के समस्त निकायों में सभी स्तरों पर और व्यवसायी शिक्षा जैसे इन्जीनियरिंग, विधि और कृषि में डिग्री कोर्स में शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाना १९७३ तक अवश्य पूरा होना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पुस्तक निर्माण का कार्य समन्वित ढंग से आयोजित करने पर श्री आजाद ने बल दिया। और कहा कि ऐसा नहीं होना चाहिए कि पुस्तकों के अभाव के कारण यह कार्य पूरा न हो सके। उन्होंने कहा कि मैं अपने अनुभव के आधार पर एक कठोर सत्य कहना चाहता हूँ कि यह परिवर्तन पुस्तकों या शिक्षकों की लगन या शिक्षा पद्धति से प्रेम बताने वाले राजनीतिक नेताओं के आश्वासन से कार्यान्वित नहीं होगा। इस देश के विद्यार्थी, जिनके लिए हम, आप और विश्वविद्यालय हैं, वे कम से कम समय में भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने को कटिबद्ध कर देंगे। एतदर्थ विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों से हमारा साग्रह निवेदन है कि वे समय और परिस्थिति को देखते हुए शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाने में अपना सहयोग दें। इसमें उनके हित के साथ ही देश और समाज की भलाई भी है।

राजस्थान का भाषा विभाग—

राजस्थान सरकार का भाषा विभाग उस आशा और उत्साह से खोला गया था जिस पर विगत वर्ष वहाँ की सरकार ने २६ जनवरी, ६८ से अपना सभी कार्य हिन्दी में करने की घोषणा की थी। पर समय आया और बीत भी गया किन्तु उस घोषणा पर तनिक भी ध्यान न दिया गया। भाषा विभाग ने कार्यालयों के काम में आने वाले बहुत से प्राबिधों, योजनाओं तथा कागजातों को हिन्दी में अनुवाद भी कराया। पर इधर सरकार की ढुलमुल नीति तथा परिवर्तनीय दृष्टिकोण से उसके सभी किए हुए कार्य तथा अनुवाद यथावत् पड़े हैं।

इससे राजस्थान में हिन्दी के प्रयोग की क्या स्थिति हो रही है और भविष्य में क्या होगी, सोचकर बड़ा दुःख होता है क्योंकि राजस्थान अकेले ने हिन्दी साहित्य का जितना अधिक भण्डार भरा है उतना भारत के किसी भी अन्य प्रदेश ने नहीं।

केरल में हिन्दी प्रचार—

केरल प्रदेश से प्रकाशित हिन्दी की एक पत्रिका 'पूर्व ज्योति' में श्री के० जी० बालकृष्ण पिल्ले का एक लेख 'केरल में हिन्दी प्रचार : एक सिंहावलोकन' शीर्षक से कुछ दिन पूर्व प्रकाशित हुआ था। जिसमें केरल में हिन्दी के प्रति क्या धारणा है तथा उसकी स्थिति वर्तमान समय में कैसी है ? आदि की सविस्तार व्याख्या की गई है। साथ ही इस समय वहां कौन-कौन से विद्वान तथा लेखक हिन्दी-सेवा में रत हैं, सभी का विवरण दिया गया है।

हमारी सम्मति में केरल में हिन्दी प्रचार के वेग का किसी भी हिन्दी प्रदेश से मुकाबिला किया जा सकता है। उदाहरण के लिए केरल के साधारण नगर कड़प्पा के कालेज में हिन्दी के प्राध्यापकों की संख्या नौ है। जबकि इस समय उत्तर प्रदेश के प्रमुख महानगर और उत्तर भारत के प्रमुख और प्राचीन कालेज 'आगरा-कालेज' में हिन्दी के ६ अध्यापक नहीं हैं और साधारण कालेजों की तो बात ही क्या है। वहां एम० ए० में हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी इसी प्रकार अधिक है। हमें प्रसन्नता है कि केरल के अग्रणी प्रचारक प्रोफेसर ए० चन्द्रहासन को भारत सरकार ने हिन्दी निदेशालय का निदेशक बनाया है। प्रो० चन्द्रहासन इस काम को बड़ी दक्षता और परिश्रम से कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वान हिन्दी की सेवा करते हुए केरल के हिन्दी प्रेम का परिचय दे रहे हैं। अतएव श्री पिल्ले के विचारों को पढ़कर हिन्दी प्रदेशी जनता की आँखें खुलें और वे लोग भी अपने विचारों को बदलें जो दक्षिण में हिन्दी विरोध का नारा लगाते हुए नहीं अघाते।

हिन्दी में तार या मनीआर्डर न लेने पर कठोर कार्यवाही—

केन्द्रीय संचार मन्त्रालय के राज्य मन्त्री श्री आई. के. गुजराल ने यह घोषणा की है कि जो कर्मचारी हिन्दी में आए हुए तार तथा मनीआर्डर न लेगा उसके विरुद्ध केन्द्रीय प्रसारण मन्त्रालय कठोर कार्यवाही करेगा। क्योंकि ये कर्मचारी जनता को व्यर्थ ही निरुत्साहित करते हैं तथा हिन्दी की उपेक्षा करते हैं। श्री गुजराल ने जालन्धर में पञ्जाब क्षेत्र के डाक-तार विभाग के उच्चाधिकारियों को मौके पर ही इस सम्बन्ध में आदेश दिया कि वे इस प्रकार की आई हुई जनता की शिकायतों को अधिक ध्यान से सुनें जिसमें हिन्दी में लिखे हुए तार तथा मनीआर्डर के न लेने की शिकायत की गई हो। अधिकारी वर्ग कर्मचारियों को भी इस बात का निर्देश कर दें कि इस तरह के तार और मनीआर्डर पर पूरी निगरानी रख कर उसे सर्वप्रथम करें।

राजकीय कार्य हिन्दी में करने पर पुरस्कार—

भारत-सरकार ने अपने नये आदेशों के अनुसार केन्द्रीय कर्मचारियों तथा भारत-सरकार के प्रतिष्ठानों, अधिकरणों और निगमों के कर्मचारियों को सरकारी कामकाज हिन्दी में करने की छूट दी है और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि हिन्दी में काम करने वाले कर्मचारियों को किसी भी हिन्दी पत्र का अंग्रेजी अनुवाद भी नहीं देना पड़ेगा। न उसके लिये उन्हें किसी भी प्रकार से बाध्य ही होना पड़ेगा। फलस्वरूप अनेक कर्मचारियों ने अब अपना कार्य हिन्दी में करना प्रारम्भ कर दिया है।

केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी-परिषद् ने हिन्दी में काम करने वाले कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के लिए 'हिन्दी व्यवहार प्रतियोगिता' का भी आयोजन किया है। यह प्रतियोगिता १५ नवम्बर, १९६८ से प्रारम्भ होकर १४ जनवरी १९६९ तक दो महीने की अवधि तक रहेगी। इस समय में जो कर्मचारी सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करेंगे, उनके द्वारा हिन्दी में लिखे गये प्रत्येक १० शब्दों के पीछे १-१ अंक देकर अधिक अंक प्राप्त करने वाले कर्मचारियों को लगभग एक हजार रुपये के पुरस्कार दिए जायेंगे। साथ ही अधिक अङ्क प्राप्त करने वाले कर्मचारी को एक प्रशस्ति-पत्र भी दिया जाएगा। प्रशस्ति पत्रों की संख्या कई होगी जोकि एक सीमा के ऊपर अङ्क पाने वाले कर्मचारियों को प्राप्त होंगी। इस

प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए कर्मचारियों को कोई प्रवेश शुल्क नहीं देना पड़ेगा।

इस प्रकार की प्रतियोगिता से निश्चय ही कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग पर प्रभाव पड़ेगा और लोग हिन्दी की ओर मुखरित होंगे। इसके अतिरिक्त हिन्दी के पत्रों की कार्यवाही हिन्दी में होने से उसकी लोकप्रियता भी बढ़ेगी तथा पारस्परिक कार्यों में सहयोग की भावना भी प्रबल होगी।

तमिलनाद में हिन्दी-शिक्षा की योजना विचाराधीन—

तमिलनाद में हिन्दी की शिक्षा देने के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचारक सभा की 'जनता हिन्दी विद्यालय' स्थापित करने की योजना पुष्टि के लिए केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के विचाराधीन है।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की सरकार द्वारा त्रिभाषा फार्मूला स्वीकार न करने के निर्णय के कारण तमिलनाद में हिन्दी का शिक्षण स्थगित कर दिया गया था।

दक्षिण हिन्दी प्रचार सभा के महासचिव श्री एस० आर० सा गपाणि ने कहा है कि जनता हिन्दी विद्यालय की योजना, हिन्दी शिक्षा के लिए अलग हिन्दी स्कूल खोलने की नहीं, बल्कि उन सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक संस्थाओं को हिन्दी शिक्षकों की सेवाएँ उपलब्ध हेतु है जो अपने सदस्यों को हिन्दी पढ़ाने में दिलचस्पी रखती हों।

उन्होंने कहा कि यह सोचना गलत है कि विद्यालय राज्य में हिन्दी के कई स्कूल खोलना चाहता है।

हिन्दी शिक्षण के मार्ग में सभा के सामने सबसे बड़ी दिक्कत धन का अभाव है। इसलिए वह हिन्दी शिक्षा के लिए शिक्षकों को नियुक्त करने में असमर्थ है।

उन्होंने कहा कि हिन्दी विरोधी आन्दोलन के बावजूद तमिलनाद के युवकों में हिन्दी के प्रति उदासीनता नहीं है। १९६७ में मद्रास से २५५०६ विद्यार्थी हिन्दी परीक्षा में बैठे, जिनमें से ७२७३ शहर के थे। इसी तरह आन्ध्र से ३९२८१ और मैसूर से ४६४४८ विद्यार्थी हिन्दी परीक्षाओं में बैठे।

उन्होंने कहा कि जिस तरह दक्षिण में हिन्दी का प्रचार हो रहा है उसी तरह सभा ने उत्तर भारत में दक्षिण भारतीय भाषाओं के प्रचार की योजनाएँ तैयार की हैं। उत्तर भारत के दक्षिण भारतीय संगठनों में दक्षिण भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। इसके शिक्षक वही होंगे जो हिन्दी और किन्हीं दो भारतीय भाषाओं की जानकारी रखते हों। सभा परीक्षाओं का आयोजन करेगी और सफल परीक्षार्थियों को डिप्लोमा वितरित करेगी। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश ने इस योजना के प्रति दिलचस्पी प्रकट की है।

दिल्ली में हिन्दी ही एकमात्र सरकारी भाषा—

दिल्ली प्रशासन ने स्वराष्ट्र मन्त्रालय की नाराजगी के बावजूद यह घोषणा कर दी है कि हिन्दी ही दिल्ली की एकमात्र सरकारी भाषा है। हाँ, केवल उन अहिन्दी भाषी राज्यों को, जो अंग्रेजी अनुवाद पर ही बल देंगे, हिन्दी के पत्रों के साथ उनके अंग्रेजी अनुवाद भेजे जायेंगे। वैसे अधिकांश राज्य इस बात के लिए सहमत हो गये हैं कि उनसे उनकी क्षेत्रीय भाषा में ही पत्र-व्यवहार किया जाय। दिल्ली प्रशासन ने अंग्रेजी के आंशिक प्रयोग की अवधि अधिक से अधिक पाँच वर्ष रखने का निश्चय किया है। दिल्ली प्रशासन की ओर से केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री को यह भी सुझाव भेजा गया है कि देश भर में शिक्षा-पद्धति एक जैसा ही होनी चाहिये।

वीरगाथा काल के उपेक्षित तत्व

डा० मोहनलाल जिज्ञासु

हिन्दी-साहित्य का इतिहास कई अध्यायों में विभक्त है। इसके आरम्भ-काल को 'वीरगाथा काल' की संज्ञा दी गई है। इसे 'प्राचीन काल', 'आदिकाल' एवं 'चारण काल' के नामों से भी अभिहित किया गया है। काल एक ही है, केवल नाम भिन्न-भिन्न पड़ गये हैं। इसका समय ११ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक माना गया है। इस काल के कवियों में दो-चार के नाम अवश्य लिये जाते हैं जिन्हें अप्रामाणिक भी सिद्ध किया गया है। इतना होते हुए भी तत्कालीन काव्य-प्रवृत्तियों का निरूपण बराबर होता आया है। परन्तु इस काल के विषय में इतिहास-लेखकों एवं विश्वविद्यालय के हिन्दी-विद्यार्थियों में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं जिनका निराकरण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। अस्तु,

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में वीरगाथा-काल के साहित्य को राजस्थान का साहित्य अवश्य माना गया है किन्तु इस साहित्य का अध्ययन करना तो दूर रहा, इस प्रान्त पर भी सहृदयता से विचार नहीं हुआ है। इस काल का प्रणेता राजस्थान में शायद ही आया हो और शायद ही उसने यहाँ के सांस्कृतिक वैभव को जानने की चेष्टा की हो। जो कुछ लिखा गया, वह अधिकांश बाहर के विद्वानों का है। अतः सिद्धान्त के रूप में जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए हैं, वे सत्य से दूर तथा ज्ञान से शून्य हैं। आत्मीय परिचय के अभाव में इस उपेक्षित साहित्य के प्रति न्याय नहीं हो पाया। मुसलमानी तथा अंग्रेजी शासन काल में राजस्थान छोटे-मोटे १६ विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था। साहित्य भी इधर-उधर बिखरा हुआ पड़ा था। इन समस्त राज्यों में घूम-फिर कर सामग्री का आकलन करना सहज काम नहीं था। १५ अगस्त, सन् ४७ ई० के नव प्रभात में उन्हें एक सूत्र में पिरोया गया फलतः प्राच्य विद्या प्रतिष्ठानों में सामग्री जमा होने लगी। स्वतन्त्र भारत में राजस्थान नये स्वरूप को लेकर अन्य राज्यों के सम्मुख आया है। अतः 'वीर गाथा काल' नामक अध्याय पर पुनर्विचार करना आज की सबसे बड़ी आवश्यता है।

इतिहास के आरम्भ काल को जो 'वीरगाथा काल' की संज्ञा दी गई है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। सन्देह नहीं कि राजस्थान में वीर गाथाओं की एक समृद्ध परम्परा के दर्शन होते हैं किन्तु यह परम्परा छिन्न-विच्छिन्न न होकर क्रमबद्ध रूप से विकसित होती रही है। इसका लोप कभी नहीं हुआ। मध्य एवं आधुनिक काल में तो इन गाथाओं का क्रम बड़े वेग से चलने लगता है। यदि सच पूछा जाय तो राजस्थान में आज भी 'वीरगाथा काल' चल रहा है। अतः १४ वीं शताब्दी तक के साहित्य को ही इतिहास में स्थान देना तथा आगे को एकदम उपेक्षा कर देना न्यायसंगत नहीं दिखाई देता।

कहते हैं, यह युद्ध का समय था अतः ओजस्विनी भाषा में वीर रस का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें शृङ्गार का पुट रहता था। प्रबन्ध के भीतर कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति भले ही दृष्टिगोचर हो, मुक्तक-रचना पर यह नियम लागू नहीं होता। यह सच है कि राजस्थानी साहित्य वीर रस में सानी नहीं रखता। भारतीय साहित्य में यही इसकी मौलिक देन है। ऐसा साहित्य सब कालों में समान रूप से उपलब्ध होता है। केवल वीरगाथा काल के सम्बन्ध में ही यह बात

नहीं। उल्लेखनीय है कि राजस्थानी में अन्य रसों में भी रचनाएँ हुई हैं लेकिन प्रधानता वीर रस की ही है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल के समानान्तर अन्य रसों में भी रचनाएँ देखने को मिलती हैं।

वीरगाथा काल की सर्वाधिक विशेषता उसका युद्ध-वर्णन है। ऐसे फड़कते हुए वर्णन विश्व-साहित्य में भी नहीं मिलेंगे लेकिन युद्ध का कारण स्त्री ही हो, ऐसी बात भी नहीं। युद्धों का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि अधिकांश युद्ध धरती-प्रेम के कारण हुए हैं। अपने राज्य की रक्षा हेतु यहां के योद्धा को बाह्य आक्रमणकारियों का डटकर सामना करना पड़ा है। व्यर्थ के दम्भ तथा थोथी शान में आकर राजपूत राजपूत से भिड़ गया है। वर्षों पुराने बैर को उसने सूद सहित चुकाया है। पारस्परिक ईर्ष्या-ग्लानि तथा विवाह सम्बन्धी झगड़ों को लेकर भी कलह उत्पन्न हुए हैं किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं। 'जर-जोरू-जमीन' के झगड़े सब देशों और कालों में होते आये हैं, फिर राजस्थान की नारी के सिर पर यह दोष क्यों लगाया जाता है? राजस्थानी नारी की महिमा तो उन सतियों में देखने को मिलेगी जो चितारोहण कर परलोक में भी अपने पति का साथ देती हैं। वस्तुत: राजस्थान के वीरों और वीरांगनाओं ने वीर धर्म का जिस तत्परता से पालन किया, वह हमारे सामने एक आदर्श है।

वीरगाथा काल की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना बताया जाता है। आश्रयदाता योग्य है तो उसकी प्रशंसा करने में क्या बुराई है? यह तो मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति है। फिर सब रचनाओं में प्रशंसा ही प्रशंसा की गई हो, ऐसा भी तो नहीं दिखाई देता। यह लक्ष्य करने की बात है कि चारण क्षत्रिय का समालोचक है। इस नाते वह गुणों के साथ अवगुणों की भी समीक्षा करता आया है। उसकी लोकप्रियता के मूल में यही भावना अन्तर्निहित है। चारण साहित्य के प्रसंग में एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलेंगे जहाँ क्षात्र-धर्म से प्रेरित होकर कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की निन्दा भी की है। यह निन्दात्मक काव्य 'विसहर' नाम से पुकारा जाता है और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

वीरगाथा काल के कवि स्वतन्त्र रचना न कर किसी राजा के आश्रय में रहते थे। आश्रय किसी-न-किसी का तो होता ही है। उन दिनों सत्ता राजा महाराजाओं के हाथ में थी अतः उनके आश्रय में रहकर कवि तथा लेखक मान-सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्त कर सकता था। आज भी सत्ता कांग्रेस के हाथ में है तो सब उसका आश्रय प्राप्त करने के लिए दौड़-धूप कर रहे हैं। स्पष्ट है, भौतिक ऐश्वर्य के लोभ में पड़कर प्रत्येक मनुष्य तथा जाति स्वभावत: सत्तारूढ़ दल अथवा जाति से अपना सम्बन्ध जोड़ती आई है। सिद्धान्त रूप में कवि कहने के लिए स्वतन्त्र है किन्तु व्यवहार में वह पराधीन है। अपने धर्म, समाज एवं राजनीति से वह ऊपर नहीं उठ पाया है। आज कितने ही कवि एवं लेखक सत्तारूढ़ दल के द्वार खटखटाते रहते हैं, कितने ही विभाग एवं केन्द्र स्थापित हैं जिनमें प्रशंसा के लिए पानी की तरह पैसा बहाया जाता है। परिस्थिति से विवश होकर ऐसा करना पड़ता है या साहित्य के उच्चादर्श को ध्यान में रखकर ऐसा किया जाता है? उच्चादर्श को ध्यान में रखकर साहित्य की सर्जना करने वाले विरले ही मिलेंगे।

वीरगाथाकाल की रचनाओं पर एक आरोप यह भी है कि उनमें कल्पना से बहुत काम लिया गया है। एक सामान्य सी बात को बढ़ा-चढ़ाकर झूठ से भी आगे पहुँचाया गया है। साहित्य में ऐसी कौन सी विधा है, जिसमें कल्पना से काम नहीं लिया जाता? मेरा तो दृढ़ विश्वास है, साहित्य कल्पना के बिना जीवित नहीं रह सकता। कल्पना ही उसे सजीव बनाती है और मानव समुदाय के बीच गोचर रूप में लाती है। गाथाओं में इसका उपयोग सबसे अधिक होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि असत्य भाषी है। कल्पना का आवरण हटाकर देखने से उसके

भीतर सत्य का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगता है। अतः जो लोग साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक तथ्यों को ढूँढ़ने के आदी हो गये हैं, उन्हें चाहिए कि वे इतिहास पढ़ें, साहित्य नहीं।

वीरगाथाकाल की रचनाओं में इतिहास की अपेक्षा काव्य की मात्रा अधिक बताई जाती है। यह निष्कर्ष आसानी से नहीं निकाला जा सकता क्योंकि अभी तो आलोच्य काल की रचनाएँ ही अन्धकारमय हैं, उनके मूल रूप का कहीं पता नहीं है। राजस्थान में ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने काव्य के लक्षणों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने ऐतिहासिक व्योरों को काव्य का स्वरूप प्रदान किया है। काव्य की दृष्टि से कहीं-कहीं तो वर्णन इतना शुष्क दिखाई देता है कि ऐतिहासिकता ही उसका एक-मात्र आकर्षण बन जाता है। मेरी समझ में चारण कवि इतिहास का आश्रय लेकर ही काव्य-लोक में विचरण करता है। चाहे गाथा लिखे अथवा गीत, वह अपना यह स्वभाव नहीं छोड़ पाता। फलतः उसमें काव्य तथा इतिहास दोनों का सामंजस्य देखने को मिलता है। ऐसी रचना को 'ऐतिहासिक काव्य' कहा जा सकता है।

वीरगाथाकाल के प्रायः सभी कवि चारण-भाट बताये जाते हैं। चारण और भाट को एक ही मान लेना आपत्तिजनक है। ये दोनों ही पृथक्-पृथक् जातियां हैं। भाट बहियां रखते हैं और वंशावलियाँ बनाते हैं। भाटों का सम्बन्ध राजपूत जाति से है, अन्य जातियों से नहीं। राजस्थान में चारण एवं राजपूत का घनिष्ठ सम्बन्ध देखते ही बनता है। एक गुरू है, दूसरा शिष्य। चारण ने अपने ओजस्वी भाषणों से प्राणों का मोह छुड़ाकर वीरों को स्वदेश एवं परहितार्थ मृत्यु का आलिंगन करना सिखाया है। आवश्यकतानुसार वह स्वयं भी अपने स्वामी के साथ युद्धभूमि में उपस्थित होकर तलवार से जूझ पड़ा है। उसने इतिहास एवं कविता के माध्यम से राजपूत जाति का पथ-प्रदर्शन किया है। चारण काव्य है तो राजपूत उसका विषय है। इस काल के सभी कवि चारण नहीं है। राजस्थान में चारणेतर साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, जो पृथक अध्ययन का विषय है।

भाषा की दृष्टि से वीरगाथाकाल 'डिंगल' (राजस्थानी) साहित्य का पर्याय बन गया है। इसे हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाता है। आरम्भ में हिन्दी ने जिन डिंगल (राजस्थानी) शब्दों तथा उनके रूपों को को अपनाया वे इतने गरिष्ठ सिद्ध हुए कि वह उन्हें पचा न सकी। उसने कर्णकटु शब्दों को छोड़कर कर्णप्रिय शब्दों को ग्रहण किया, अतः राजस्थानी को वह भूल गई। राजस्थानी भी हिन्दी में अन्य प्रान्तीय भाषाओं के सदृश घुलमिल नहीं पाई। कालान्तर में, उसका पृथक शब्द-कोष, व्याकरण, छन्द एवं अलंकार शास्त्र बनकर तैयार हुए जो इसके पृथक अस्तित्व की सूचना देते हैं।

राजस्थानी भाषा एवं साहित्य को जातीय, धार्मिक अथवा मौखिक कहकर उपेक्षा और अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। साम्प्रदायिक होने के कारण ही किसी सुन्दर कला-कृति की अवज्ञा करना अपनी संकीर्ण विचारधारा का परिचय देना है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्ति-युग की रचनायें और क्या हैं? वस्तुतः जीवन में जिन-जिन दिशाओं से प्रेरणा मिलती है उनमें जाति और धर्म का विशिष्ट स्थान है। यदि सच पूछा जाय तो जातीय, धार्मिक एवं मौखिक होने से ही राजस्थानी साहित्य उनके शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित हुआ है।

हिन्दी-साहित्य के सिंह-द्वार पर वीरगाथा काल का जो खजाना मिला उसमें पूँजी बहुत थोड़ी निकली और हम उसका भी मूल्यांकन नहीं कर पाये। नीचे राजस्थानी साहित्य की नवीन रत्न-राशियों के नाम दिये जा रहे हैं जो इसी काल की हैं, अतः इतिहास लिखते समय इनका समावेश होना ही चाहिए। ये समस्त रत्न-राशियां चारण-कुल की हैं और हिन्दी-जंगत को उपहार में दी जाती हैं। खोज से चारणोत्तर कुल की अन्य मणियों का भी पता लगाया जा सकता है।

१. चरपटनाथ—इनका जन्म राजस्थान में हुआ था। ये गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के एक दृढ़ स्तम्भ थे। इनका उद्भव काल ११ वीं शताब्दी माना जाता है। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—(१) चरपट शतक (पद्य), (२) चरपट सबदी (पद्य), (३) चरपट रसायन (गद्य)।

२. ऊजली कवयित्री—यह पोरबन्दर (सुदामापुरी) के अमरा चारण की एक कन्या थी जिसका धूमलीनगर के जेठवा जाति के मेह (मेहा) नामक राजकुमार से प्रेम हो गया था। इसका समय १२वीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) है। इसके नाम के उपलब्ध होने वाले दोहे-सोरठों की संख्या १५०—२०० तक पहुँच जाती है। प्रेम-पद्धति और आदर्श की दृष्टि से यह काव्य दर्शनीय है।

३. मावल बरसड़ा—ये कच्छ के शासक रावल लखधीर के समकालीन थे और रामादेडी गाँव में रहते थे। इनकी विलक्षण प्रतिभा एवं कवित्व-शक्ति से प्रभावित होकर लखधीर ने बारह गाँवों का पट्टा दिया था। इनके रचे हुए लाखा-फूलाणी के नाम से वाद-विवाद के रूप में दोहे उपलब्ध होते हैं।

४. आसा—ये कान्हड़देव के राज्याश्रित कवि थे। इन्होंने स्फुट रचना के द्वारा अपने आश्रयदाता तथा तत्कालीन राजकुमारों को सत्पथ पर लगाया था।

५. हूँपकरण सांदू—ये मेवाड़ राज्यान्तर्गत हूँमार वेड़ी गाँव के निवासी थे और जैसलमेर के महारावल दुर्जनसाल के आश्रित थे। इनके वीररसात्मक स्फुट गीत उपलब्ध होते हैं। जो मौलिक उद्भावनाओं में बेजोड़ हैं।

६. हरसूर बारहठ—ये मारवाड़ के भीमाड़ गाँव के रहने वाले थे और गोधाजी के पुत्र थे। इनकी लिखी हुई फुटकर कवितायें उपलब्ध होती हैं।

७. आल्हा बारहठ—ये जैसलमेर राज्यान्तर्गत हड्डवा गाँव के निवासी थे और भाँणोजी के पुत्र थे। इन्होंने राजपूत जाति की खूब सेवा की। इनका लिखा हुआ 'वीरमायण' ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

८. झीमा कवियित्री—यह मावल बरसड़ा की कन्या थी। इसके लिखे हुए शृङ्गारपरक कतिपय दोहे उपलब्ध होते हैं।

९. लूणकरण महड्डू—ये मेवाड़ के महाराणा मोकल के समकालीन थे। इन्हें मेवाड़ में बाड़ी और मारवाड़ में राजोला नामक गाँव पुरस्कार स्वरूप मिले थे। इनकी लिखी हुई फुटकर रचनायें उपलब्ध होती हैं।

१०. चानण खिडिया—ये मारवाड़ राज्यान्तर्गत वीर गाँव के निवासी थे और राय रणमल के समकालीन थे। इनके बनाये हुए दोहे एवं गीत उपलब्ध होते हैं।

११. सिवदास गाडण—ये गागरोनगढ़ (कोटा) के निवासी थे। इनको तत्कालीन राजा अचलदास खीची का राज्याश्रय प्राप्त था। इनका लिखा हुआ 'अचलदास खीची री वचनिका' नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें पद्य के साथ-साथ गद्य भी है।

१२. पसाइत गाडण—ये मारवाड़ राज्य की प्राचीन राजधानी मंडोवर के रहने वाले थे और राव रणमल के समकालीन थे। रणमल को लक्ष्य करके इन्होंने विविध छन्दों की सृष्टि की है जिनका काव्य के साथ ऐतिहासिक महत्व भी है।

१३. पीठवा मिश्रण—ये जैसलमेर राज्यान्तर्गत बोगनियाई गाँव के निवासी थे और समरसी के पुत्र थे। इनका प्रण था कि दान लूँगा तो अरब पसाव ही लूँगा। कहीं गया तो एक रात से अधिक न रुकूँगा और कविता लिखनी हुई तो एक दोहे से अधिक नहीं बनाऊँगा। कहते हैं, एक दोहे पर इन्हें अरबपसाव मिला था।

१४. खेंगार महड्डू—ये मारवाड़ राज्य के राजोला गाँव के निवासी थे। इनके समय में महाराणा कुम्भा सिंहासनारूढ़ थे। इनके लिखे हुए फुटकर गीत मिलते हैं।

१५. वारू सांदा—ये महाराणा हम्मीर के समय में पाँचसौ घोड़े लेकर गुजरात से मेवाड़ बुलाये गये थे। इन्हीं घोड़ों के बल पर महाराणा ने अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त किया था। इन्हें बारह गाँव

(शेष पृष्ठ ८० पर)

लोक साहित्य की महत्ता

डा० श्रीराम शर्मा

लोक साहित्य क्या है? इसका संस्कृति से क्या सम्बन्ध है? आदि ऐसे प्रश्न हैं, जो लोक-साहित्य के स्वरूप, आत्मा विषयक जानकारी प्रदान कराने में सहायक होते है। साधारण विचारक के मन में यह जानने के पूर्व कि लोक-साहित्य क्या है, एक साधारण प्रश्न यह उठता है कि लोक-साहित्य का अध्ययन क्यों किया जाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना प्रस्तुत विषय-मन्थन के लिए लोक-साहित्य-दधि की हाँडी में 'रई' ही नहीं पड़ सकेगी।

लोक-साहित्य के अध्ययन से किसी प्रदेश के सांस्कृतिक-इतिहास को सुरक्षित रखा जा सकता है। क्योंकि लोक-साहित्य में ही सांस्कृतिक इतिहास की कड़ियाँ मौखिक परम्परा से चली आती हैं। इसके अतिरिक्त लोक-साहित्य में भूगोल और विशेषत: आर्थिक-भूगोल का भी वर्णन मिलता है। लोक-गीतों में बनारस का साड़ी-उद्योग, बरेली का सुरमा-उद्योग और जयपुर का चुनरी-छपाई उद्योग आदि का तो यथातथ्य चित्रण लोक साहित्य में ही मिल सकता है। लोक-जीवन की अनेक परम्पराएँ, परिपाटियाँ, भूत-कालीन संस्थाओं की प्रतीक बनकर उनके स्मारक की भाँति लोक-साहित्य में शेष रह जाती हैं।

लोक-साहित्य की सबसे महान् उपयोगिता भाषा-शास्त्र की दृष्टि से होती है। लोक-साहित्य वास्तव में भाषा-शास्त्री के लिए अमूल्य निधि और अक्षय भण्डार होता है, जिसमें अनेक अनमोल रत्न छिपे पड़े रहते हैं।

आज जो राष्ट्रभाषा में शब्दावली की कमी का अनुभव किया जा रहा है, वह लोक-साहित्य के अध्ययन से पूर्ण हो सकता है। निस्सन्देह राष्ट्रगिरा माँ भारती की झोली को उसकी विभिन्न बोलियों के लोक-साहित्य द्वारा समृद्ध किया सकता है।

निष्कर्ष यह है कि लोक-साहित्य में मानव-शास्त्र, सांस्कृतिक इतिहास, आर्थिक भूगोल, समाज, धर्म, नीति और भाषाशास्त्र आदि अनेक दृष्टियों से अनेक अनमोल रत्न भरे पड़े हैं।

"लोक-साहित्य उस निर्मल दर्पण के समान है, जिसमें जनता जनार्दन का अखिल तथा विराट स्वरूप पूर्णरूपेण दिखाई पड़ता है। लोक-संस्कृति का जैसा दिव्य तथा अकृत्रिम प्रतिबिम्ब इस साहित्य में उपलब्ध होता है, उसका दर्शन अन्यत्र कहाँ? × × × इसमें जिस समाज का चित्रण किया गया है, वह स्वस्थ, सदाचारी एवं धर्म भीरु है; जैसे नीति की प्रतिष्ठा की गई है, वह कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली है, वह मंगलमय की प्रदर्शिका है; जिस धर्म का वर्णन किया गया है वह संसार में शान्ति तथा प्रेम का उपदेश देता है; जिस आर्थिक संघटन का उल्लेख हुआ है, वह पीड़ित तथा दलित मानवता के शोषण के ऊपर अवलम्बित नहीं है; जिस राजनीति का दिग्दर्शन कराया गया है, वह दलीय संघर्ष और विषाक्त वातावरण से कोसों दूर है। धर्म, समाज नीति का यही मनोरम चित्रण इस साहित्य की महत्ता में चार चाँद लगा देता है।"[1]

लोक--लोक शब्द अँग्रेजी के 'फोक' शब्द की समान ध्वनि के आधार पर ग्रहण किया गया होगा। हमारे शास्त्रों में 'लोक वेदे च' की दो समानान्तर

[1] लोक-साहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय पृ. २७१।

धाराओं का उल्लेख भी हुआ है। वहाँ 'वेद' की धारा में शिष्ट, सुपठित जनों को समाहित किया गया है और लोक की परिधि में अशिक्षित वर्ग को। वास्तव में लोक शब्द उस अर्द्धशिक्षित जनों के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए जो चाहे ग्रामीण या नगर के क्षेत्र में निवास करते हों। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसीलिए 'लोक' को ग्राम का पर्याय बताने वालों के विरोध में स्पष्ट लिखा था—

"लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।"[१] इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ देने वाले अनेक शब्द भी प्रचलित हैं, जैसे—लोक-परम्परा, लोक-मानस, लोक विश्वास, लोकमान्यताएँ आदि। इन सभी शब्दों में लोक एक वर्ग का वाचक शब्द है जो अशिक्षित या अर्द्ध शिक्षित जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक और ग्राम—लोक शब्द के समानार्थी 'ग्राम' शब्द का प्रयोग लोक-साहित्य के अग्रणी संग्राहक श्री रामनरेश त्रिपाठी ने किया था। किन्तु लोक शब्द के भाव को ग्राम शब्द व्यक्त नहीं कर पाता। क्योंकि 'लोक' शब्द में 'ग्राम' तथा 'नगर' दोनों में समान रूप से पाये जाने वाले अशिक्षितों या अर्द्धशिक्षितों को समेट लिया जाता है। इस प्रकार 'लोक' की व्याप्ति 'ग्राम' शब्द से अधिक विस्तृत है।

लोक-साहित्य—लोक-साहित्य की परिभाषा अनेक विद्वानों ने की है। उनमें से कतिपय परिभाषाएँ दृष्टि गत करना श्रेयस्कर होगा। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने "ऐसी मौखिक अभिव्यक्ति की कृति को जिसमें लोक की युगयुगीन वाणी-साधना समाहित रहती हो तथा जिसमें लोकमानस प्रतिबिम्बित रहता हो, लोक-साहित्य माना है। लोक-साहित्य की सबसे समीचीन परिभाषा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने की है—

"सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उस की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि और सुख-दुख की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसी को लोक साहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोक साहित्य जनता का वह साहित्य है, जो जनता द्वारा जनता के लिए ही लिखा गया हो।'[३] यही परिभाषा किंचित परिवर्तित रूप में श्रीयुत गूमर महोदय ने दी है—

"A Ballad is the poetry of the people by the people for the people."[४]

लोक साहित्य शब्द के स्थान पर कुछ भारतीय विद्वानों ने जनपदीय साहित्य कहने की वकालतें की हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने जनपदीय के स्थान पर 'लोक' शब्द को ही अधिक व्यापक सामान्यता का बोध कराने वाला बताते हुए, अधिक समी-चीन ठहराया है।[५] वास्तव में हमें इस विरोध में नहीं पड़ना चाहिए और दोनों शब्दों को, जो अपनी विशिष्टताएँ लिए हैं ग्राम अथवा नगरों में रहने वाले उस अशिक्षित वर्ग के लिए प्रयोग कर सकते हैं, जो मूढ़ाग्रहों, अन्ध-विश्वासों तथा रूढ़िग्रस्त परिपाटियों से मुक्त न हुए हों। यद्यपि 'जनपदीय' शब्द का प्रयोग हमें अधिक समीचीन प्रतीत होता है, तथापि प्रचलन के सम्मुख नतमस्तक होकर 'लोकसाहित्य' शब्द को ही स्वीकृति देने में कोई हानि नहीं।

लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य—रूढ़िग्रस्त सर्वसाधारण अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनता का साहित्य लोक साहित्य और सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत जनता की कृति परिनिष्ठित साहित्य कहलाता हैं। एक-एक वर्ग के मानस की कृति होने के कारण अपने-अपने वर्ग का चित्रण ही इन साहित्यों में मिलता है। परिनिष्ठित साहित्य निश्चित रूप से लिखित होता है, जबकि लोक-साहित्य लिखित एवं मौखिक दोनों रूपों में मिलता है। किन्तु प्रायः भारतीय एवं विदेशी विद्वान् लोकसाहित्य को मौखिक

[१] जनपद वर्ष १, अङ्क १, पृ० ६५।
[२] हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ ६८२।
[३] हि० सा० का वृ० इति० १६ भाग पृ० १६।
[४] The popular Ballad p. 417
[५] हिन्दी साहित्य कोश डा० वर्मा।

परम्परा पर ही जीवित मानते हैं।

लोक-साहित्य की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जनपदीय जनों द्वारा रचित होने के कारण ऐसी स्वतन्त्र जीवित लोकभाषा में रचा जाता है जो अपने स्वतन्त्र स्वरूप की अमिट छाप लोक-साहित्य पर छोड़ता है। लोक-साहित्य लोकभाषा में अभिव्यक्त होने के कारण शास्त्रीय सिद्धान्तों में नहीं बंधता। लोक-साहित्य के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसके रचयिता का नाम भी ज्ञात नहीं रहता। लोक-साहित्य की रचना करने वाला एक व्यक्ति तो होता है किन्तु बाद में भी उसमें लोकमानस की खरादें लग-लगकर शुद्ध रूप रह जाता है और उस घिस-घिस कर बचे रहने वाले स्वरूप का रचयिता एक न होकर समस्त लोकमानस हो जाता है। यही कारण है कि उसके रचयिता का नाम तक ज्ञात नहीं रहता। यह मान्यता परम्परा-प्रवाही लोक-साहित्य के विषय में तो शत प्रतिशत उचित ठहरती है। कुछ लोक-साहित्य इसका अपवाद स्वरूप भी रहता है अर्थात् उसके रचयिता के नाम की छाप भी मिल ही जाती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिष्ट साहित्य के रचयिता का नाम तो निश्चित रूप से अवश्य ही ज्ञात रहता है क्योंकि वह लिखित रहता है किन्तु लोक-साहित्य के रचयिता का प्रायः पता नहीं रहता क्योंकि वह मौखिक परम्परा पर ही जीवित रहता है।

लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य का स्पष्ट अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। लोक-साहित्य वास्तव में परम्परा की बेड़ियों से युक्त विस्तृत वाङ्मय होता है, जिसके कुछ चुने-चुने भावों को लेकर मर्यादित शिष्ट साहित्य की सर्जना होती है। इसीलिए शिष्ट साहित्य परम्परा का साहित्य होता है, परम्परा मुक्त नहीं। लोक-साहित्य के प्रकृत-प्रसूत रूप से छन-छन कर आने वाले अंश को ही शिष्ट साहित्य कह सकते हैं। जिसकी उचित शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काट-छाँट करदी जाती है। इसीलिए फ्रांसिस गूमर ने कहा है—"They are fresh with the open air. Wind and sunshine play through them." इसी प्रसंग में सुप्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने कहा है—"Their inspiration comes fresh from nature; they are never got up, they flow from a sure spring."[1]

लोक साहित्य के अन्तर्गत लोककथाएँ, लोक गीत, लोक गाथाएँ, लोकनाट्य नामक विधायें आती हैं। इन विधाओं के अतिरिक्त प्रकीर्ण शीर्षक के अन्तर्गत पहेलियाँ, लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे आ सकते हैं।

साहित्य का जीवन और संस्कृति से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यों तो, साहित्य समाज का दर्पण होता है यह उक्ति लोक साहित्य पर अक्षरशः सत्य ठहरती है। इसकी व्याख्या करने से पूर्व संस्कृति शब्द और लोक संस्कृति के क्षेत्र को भी स्पष्टरूप से समझने की आवश्यकता होगी।

संस्कृति एवं लोक संस्कृति—इन दोनों का अन्तर समझने के पहले संस्कृति की एक परिभाषा देखना अधिक समीचीन होगा। श्री शिवदत्त सानी के शब्दों में—"संस्कृति से मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे सुधरा हुआ, ऊँचा, सभ्य आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है।" जबकि लोक संस्कृति की परिभाषा करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्ट किया है कि वह लोक के सर्वसाधारण की संस्कृति होती है—"लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है, जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जिसकी उत्स भूमि जनता थी और जो बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर उपस्थित थी।"[2] कुछ विद्वानों ने पाश्चात्य विद्वानों की अनुकृति करते हुए असभ्य एवं पिछड़े लोगों की सभ्यता को लोक संस्कृति कहा है[3] जो निश्चित रूप से भारतीय

[1] The study of folk songs.

[2] हि० सा० का बृ० इतिहास १६ वां भाग भूमिका।

[3] डा० रवीन्द्र भ्रमर : पद्मावत में लोकतत्त्व पृ० २१।

लोक संस्कृति के लिए उचित प्रतीत नहीं होती।

दोनों प्रकार की संस्कृतियों में कुछ आन्तरिक साम्य तो अवश्य रहता है। अन्तर इतना है कि शिष्ट जनों की संस्कृति निश्चित रूप से लोक-संस्कृति का ही परिनिष्ठित रूप होता हैं। लोक संस्कृति से सुन्दर एवं सुग्राह्य तत्त्वों को छान-छानकर शिष्ट संस्कृति में ले लिया जाता है। अतः शिष्ट संस्कृति का आधार लोक संस्कृति ही है। डा० बल्देव उपाध्याय ने ऋग्वेद एवं अथर्ववेद से उदाहरण देते हुए इसी तथ्य की पुष्टि की है—

"लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहिताएं[1] दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायिकाएं हैं।

निष्कर्ष यह है कि आदिम युग की मानवीय प्रवृत्तियाँ जहाँ परम्परा एवं रूढ़ियों के सहारे ज्यों की त्यों चली आ रही हों, वह लोक संस्कृति का क्षेत्र है और उसमें संशोधन एवं काट-छाँट करके जो परिनिष्ठित रूप प्रचलित रह गया, वह शिष्ट सस्कृति का क्षेत्र है।

लोक साहित्य एवं संस्कृति—लोक साहित्य चूंकि लोक मानस की प्रतिच्छाया होता है, तथा लोक जीवन का प्रतिबिम्ब, इसलिए लोक साहित्य में लोक संस्कृति का समग्र चित्र मिलता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि लोक संस्कृति का इतिहास तो लोक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। डा० कन्हैयालाल सहल के शब्दों में—

"सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री तो लोक साहित्य में ही सुरक्षित रहती है। संस्कृति के भग्नावशेषों के आधार पर जो लोक साहित्य में छिपे पड़े रहते हैं, सांस्कृतिक इतिहास का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।" लोक संस्कृति की सीमाओं में लोक जीवन में पायी जाने वाली रूढियों, परम्पराओं, अंधविश्वासों एवं उसके सामान्य जीवन की वेश-भूषा आवास, तथा जीवनयापन के अन्य प्रसाधन, लोक के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन एवं धार्मिक जीवन का समग्र चित्र समा जाता है। लोक साहित्य में लोक संस्कृति के इन समस्त अंग-उपांगों का सच्चा चित्र पाया जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का सच्चा तथा स्वाभाविक चित्रण लोक साहित्य में उपलब्ध होता है। लोक संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए हमें लोक साहित्य का ही अनुसंधान करना होगा। लोक कवि ने समाज की जिस समता या विषमता का अनुभव किया है, उसका उसी रूप में चित्राङ्कन भी किया है। पारिवारिक जीवन के जो मर्मस्पर्शी दृश्य यहाँ उपलब्ध हैं, उसके दर्शन अन्यत्र कहाँ ? ऐसा ज्ञात होता है कि जन-जीवन को चित्रित करने वाले चतुर चितेरे ने बड़े संयम से अपनी तूलिका का प्रयोग किया है।

—हिन्दी-विभाग, धर्म समाज कालेज, अलीगढ़।

[1] समाज—वर्ष ४ अङ्क ३, १९५२ ई. पृ० ४४६।

(शेषांश पृष्ठ ७६ का)

पुरस्कार में मिले जिनमें आँतरी गाँव प्रमुख केन्द्र था। इनके लिखे हुए स्फुट छन्द उपलब्ध होते हैं।

१६. टोडरमल छाछंडा—ये मेवाड़ के निवासी थे और महाराणा रायमल के समकालीन थे। इनके फुटकर गीत मिलते हैं।

आलोच्य काल में इन सोलह प्रामाणिक कवियों के अतिरिक्त पन्द्रह चारण कवि ऐसे भी हुए हैं जिनका जीवनवृत्त तो मिलता है किन्तु कविता उपलब्ध नहीं होती। ये कवि हैं—चन्द, अमरा, गीधा, लूजा, सहज पाम, मांडण, बीसलदेव, दूलाजी, पूंजो, राजसिंह, लूणपाल, चहिथ, माला, बाजूड़ एवं पालमा। इन समस्त कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विस्तार से जानने के लिए उज्ज्वल चारण सभा, जोधपुर द्वारा प्रकाशित 'चारण साहित्य का इतिहास' भाग १ देखना लाभदायक सिद्ध होगा।

—शतदल निवास, रातानाडा, जोधपुर।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानी-कला

● डा० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

हिन्दी कहानी को कल्पना-लोक की विहार-भूमि, असम्भाव्य घटनाओं के घटाटोप तथा मानवेतर एवं अमानवीय जगत से धरती पर लाकर आदर्श से अवगुण्ठित कर प्रेमचन्द ने प्रतिष्ठित किया तथा उसमें भावुकता का प्राण-संचार प्रसादजी ने किया। फलतः कहानी कल्पना की वस्तु न रहकर जीवन की व्याख्या बन गई। लेकिन उसमें चित्रित जीवन यथार्थ होते हुए भी लेखक के अपने आदर्शों के अनुकूल ढलता हुआ सा प्रतीत हुआ। लेखक ने उस चित्र के लिए जो फलक चुना, वह ऐसा था जिसमें चित्र को स्वयं उभरने का अवकाश नहीं मिला, अपितु उसे फलक के अनुरूप ढलना पड़ा। इसी कारण आलोचकों ने प्रेमचन्द पर उपदेशक होने का आरोप लगाया। प्रसादजी ने कवि होने के कारण उस जीवन में भावना का रंग भरने का प्रयत्न किया। उसे अधिक मनोरम तथा आकर्षक बनाया, फिर भी वे संस्कारवश आदर्श से ही अनुप्राणित रहे। कहानी को जीवन की वास्तविक भूमि पर उतार कर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसे उन्मुक्त वायु-मण्डल में साँस लेने का अवसर आगे के कथाकारों ने दिया, जिनमें श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नाम प्रमुख है।

कहानी के क्षेत्र में प्रवेश करते समय वाजपेयीजी भी आदर्श की ओर ही उन्मुक्त प्रतीत होते हैं। 'अन्याय', 'सत्य की जय', 'अधिकार' तथा 'दो सम्पादक' इत्यादि अनेक कहानियाँ आदर्शवादी ही हैं, जिनमें लेखक जानबूझ कर किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करता हुआ प्रतीत होता है। इन कहानियों में जिन चरित्रों की अवतारणा की गई है, वे स्वयं गतिशील नहीं प्रतीत होते, अपितु लेखक के संकेतों पर चलते हुए दृष्टिगत होते हैं। किन्तु अति शीघ्र ही वाजपेयीजी की कला में निखार आया और उन्होंने अपनी कहानियों का धरातल मनोवैज्ञानिक बना लिया।

मानव-जीवन में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह प्रेम के ही किसी विशिष्ट रूप द्वारा परिचालित है। उसके अभाव में जीवन असम्भव नहीं तो निस्सार अवश्य है। फ्रायड प्रेम के प्रत्येक स्वरूप का मूलाधार काम-भावना को मानता है और उसी का उद्घाटन साहित्य में देखता है। उसके विचार से साहित्य अवचेतन का विस्फोट है, जो काम-वर्जनाजनित कुण्ठाओं का परिणाम है। यदि वास्तव में फ्रायड का विचार सत्य है, तो प्रेम की पावनता और आदर्श की कल्पना भी सम्भव नहीं है तथा साहित्य केवल यौन-वर्जना जनित कुण्ठाओं और विक्षोभों की अभिव्यक्ति मात्र है। किन्तु क्या साहित्य में केवल काम-कुण्ठाओं का ही उन्मीलन होता है? प्रेम का स्वस्थ एवं स्वाभाविक उद्घाटन नहीं होता? क्या यौन-वर्जनायें ही जीवन में सर्वत्र व्याप्त हैं? क्या उन्हीं की समष्टि का नाम जीवन है? अथवा जीवन में यौन-सम्बन्धों का स्वस्थ स्वरूप भी दृष्टिगत होता है? भिन्न लिंगों के पारस्परिक आकर्षण में क्या केवल यौन विकार ही आधारित हैं अथवा उस आकर्षण का आधार हृदय का पावन मधुर भाव भी हो सकता है? वाजपेयीजी ने अपनी कहानियों में द्वितीय दृष्टिकोण का ही उद्घाटन किया है। फ्रायड की मान्यताओं के विपरीत मनोवैज्ञानिक धरातल प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के सुष्ठु स्वरूप को उपस्थित करने में

वाजपेयीजी ने अपनी कला को निखार दिया है। उन्होंने व्यक्ति के अन्तस में प्रवेश करके उसकी भाव-वृत्तियों का उद्घाटन किया है। वे उसके अतल में उद्वेलित भावोर्मियों को प्रकाश में लाये हैं तथा मानस की गहराइयों में छिपे हुए मधुर तत्व को उन्होंने उभारा है 'निंदिया लागी' की पत्ती तथा 'सूखी लकड़ी' की लकड़ी बेचने वाली के प्रति करुण-मधुर आकर्षण में क्या यौन-वासना ही व्यञ्जित है? हृदय का स्वाभाविक उद्रेक ही आकर्षण के मूल में है, जो करुणा से अनुप्राणित है। यह सत्य है कि वाजपेयीजी की 'स्वयं वर', 'जहां सभ्यता साँस लेती है', तथा 'झाँकी' इत्यादि अनेक कहानियाँ उन्मुक्त-प्रेम का समर्थन करती हैं, किन्तु वासना का कर्दम उनमें भी नहीं है, वे भी केवल यौन-वृत्ति का पोषण नहीं करतीं और न गर्हित विचारों को उद्दीप्त करती हैं। इन कहानियों में उन्मुक्त प्रेम को सामाजिक औचित्य के परिप्रेक्ष्य में लाने का प्रयत्न किया गया है। क्योंकि दमित प्रेम कुण्ठाओं को जन्म देता है, जो जीवन को अवांछित कटुता से भर देता है। परिस्थितियों से समझौता कर लेने पर भी एक कसक, एक पीड़ा तथा एक टीस जीवन को कचोटती रहती है। जो कभी-कभी अभिव्यक्ति का भी अवसर पा लेती है। वाजपेयीजी की कहानियों में यह टीस भी एक तरल माधुर्य के साथ व्यक्त हुई है, जो मन की गहराइयों में उतर कर उसे आन्दोलित कर देती है। 'पेंसिल स्केच' में कुन्दन के अन्तिम क्षणों की स्मृति, 'हत्यारा' में रमेश का आत्म-शोध, 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' में दिवाकर की विशिष्टता, 'ट्रेन पर' में सुनन्दा की विवशता तथा 'आत्मघात' में भिक्षुक रोगी (गुरुदेव) के अनुताप में कितनी मर्मान्तक पीड़ा है? लेकिन यह पीड़ा अवचेतन की अवांछित कुण्ठाओं का परिणाम नहीं है, अपितु जाग्रत जीवन की स्वाभाविक अनुभूति है, तभी उसमें हृदयावर्जन की शक्ति है।

मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही वाजपेयीजी ने प्रेम के निष्कलुष, पावन तथा स्पृहणीय स्वरूप को भी चित्रित किया है। 'लिली' की लिली कवि कमलाशंकर की प्रतिभा पर मुग्ध है। परिचय के अभाव में भी वह उससे निरपेक्ष रहकर उसका बिल चुका कर अपने पावन प्रेम से पाठक के मन को शुचिता से भर देती है। मैना श्यामसुन्दर को रोग-मुक्त कर स्वयं रोग-ग्रस्त होकर प्रेम में निहित त्याग की महत्ता प्रमाणित करती है। 'थोड़ी सी पी ली' की विधवा बतासो कालू के जीवन को गति देकर कर्तव्य की प्रेरणा देती है। 'टिकुली' वंशी को पतन से बचा कर आत्म-परिशोधन का मार्ग बताती है तथा 'इन्द्रजाल' की राधा दिलीप के माध्यम से सामाजिक मर्यादा का रहस्य समझाती है। व्यक्तिगत परिस्थितियों के परिवेश में प्रेम का यह उज्ज्वल स्वरूप लेखक ने उपदेशक बन नहीं, अपितु कलाकार बन कर उपस्थित किया है। पात्रों के मानस का मन्थन करते हुए उनकी वृत्तियों में जो परिष्कार किया गया है, वह स्वाभाविक तथा मनोविश्लेषण के सर्वथा अनुकूल है।

प्रेम चाहे किसी भी प्रकार का हो, जीवन में ऐसा दंश दे जाता है, जो मन को निरन्तर पीड़ा से मथता रहता है। उससे मुक्ति के लिए, उसका स्वरूप अन्यत्र देखना पड़ता है अथवा आत्म-तुष्टि का अन्य आधार खोजना पड़ता है। 'मिठाई वाला' खिलौने और मिठाई बेचते समय अपने चतुर्दिक शिशुओं को पाकर उन्हीं में अपने मृत-बालकों की झांकी पाकर अपने वात्सल्य को साकार करता है। कबाड़ी वर्ष में एक बार ही सही अपनी सही स्मृति को उभार कर मिलन की तृप्ति का अनुभव कर लेता है। प्रेम के कारण जीवन में व्याप्त यह करुणा कितनी मार्मिक है? वाजपेयीजी इसकी गहरी अनुभूति कराने में पूर्ण सफल हुए हैं।

वाजपेयीजी ने केवल प्रेम-सम्बन्धों अथवा यौन-आकर्षणों में ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि को जागरूक नहीं रखा है, अपितु जीवन के अन्य क्षेत्रों का चित्रण भी इस भाव-भूमि पर किया है। 'स्पर्द्धा' का बनवारी निवारण की शव-यात्रा में अपनी वेदना को भुलाने का भरसक प्रयत्न करता है। बाहर से वह विनोद और उपहास में अपने को भुलाना चाहता है, किन्तु

उसका अन्तर निरन्तर आहत होकर मूक चीत्कार करता रहता है। निवारण का प्रेम और विरोध उसके मानस को इतना आक्रान्त करता है कि शव-यात्रा से लौटते समय वह विवश हो जाता है तथा अपनी अर्जित पूँजी को पहले ही निवारण के निरीह एवं अकिंचन बच्चों को वसीयत कर उसके साथ ही जगत से प्रस्थान करता है। लेखक ने वनवारी के हृदय-मन्थन का चित्र, न खींचकर भी खींच दिया है। 'परीक्षा' का अतुल परीक्षा की तैयारी के कारण एक क्रान्तिकारी को एक रात्रि भी शरण न देकर उसके मृत्यु-दण्ड के मूल में अपने को अनुभव कर जीवन भर अनुताप की अग्नि से जलता रहता है। 'चोर' का अल्लारक्खू गोपीनाथ के एक वाक्य "मैं इन दिनों मेरा काम की तलाश में रहता हूँ, बेकार घूमना अब मुझे अच्छा नहीं लगता" से अपने को घृणा से मण्डित देखकर घुटन का अनुभव करता है तथा शबनम से प्रेरणा पाकर अपने जीवन को बदल देता है और शब-नम भी उसकी जिन्दादिली से आहत होकर वेश्यावृत्ति के परित्याग को विवश हो जाती है। जीवन के ये परिवर्तन नितान्त वैयक्तिक होते हुए भी मनोवैज्ञानिक हैं।

वाजपेयीजी की कहानियाँ घटना-प्रधान नहीं हैं, चरित्र प्रधान हैं। एक छोटे से तन्तु के आधार पर कहानी का वितान तानकर व्यक्ति की अन्तरात्मा का उद्घाटन सफलता के साथ करते हैं। उनके पात्र जीवन और जगत के प्राणी होते हुए भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को लेकर आते हैं। उन्होंने अपने पात्रों के वाह्य चित्र अधिक नहीं दिये हैं, अपितु उनके मानस में प्रवेश करके उनके अन्तर का उद्घाटन किया है। अपनी अनुभूति की गहराई से उनमें प्राणों का संचार किया है। इसी कारण वे अपने में एक वैशिष्ट्य रखते हुए भी भिन्न प्रतीत नहीं होते तथा अपने चरित्र की मार्मिकता की छाप पाठक के हृदय पर भी गहरी डालते हैं। पात्रों के चरित्राङ्कन में लेखक ने प्रत्यक्ष प्रणाली को न अपनाकर परोक्ष प्रणाली को अपनाया है। पात्रों का आत्म-निरीक्षण उनके संवाद और उनकी प्रक्रिया ही उनके चरित्रों को सामने लाती है। यही लेखक की कुशलता है।

वाजपेयीजी के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि उन्होंने आभिजात्य तथा मध्यम वर्ग के जीवन को ही अपनी कहानियों का आधार बनाया है। किन्तु 'थोड़ी सी पी ली', 'टिकुली', 'सूखी लकड़ी', 'चोर' तथा 'सम्बन्ध' इत्यादि कहानियाँ प्रमाणित करती हैं कि वाजपेयीजी ने निम्नवर्गीय मानव के स्पन्दन को भी सुना है। उन्होंने उनके हृदय में भी प्रवेश किया है! उन्होंने देखा है, प्यार की धारा निम्न वर्ग के अन्तस में भी प्रवाहित होती है। 'सम्बन्ध' का नरायन पत्नी के वियोग की व्यथा से ही काम पर नहीं जा पाता। यहाँ तक कि जमीदार का कोप-भाजन बनने के भय से गाँव छोड़ने का निश्चय कर लेता है। 'टिकुली' का सात्विक प्रेम, 'सूखी लकड़ी' की नायिका का निराशापूर्ण साधनामय करुण त्याग कितना भाव पूर्ण है? अतएव वाजपेयी जी पर लगाया गया यह आरोप नितान्त तथ्यहीन है। उन्होंने आभिजात्य वर्ग पर स्थान-स्थान पर व्यंग्य करके निम्न वर्ग के प्रति अपनी करुणा की भी व्यंजना की है—'ये स्त्रियाँ, जो मजदूरी करने आई हैं, कितने सवेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी, कोई अपने घर में बच्चे को छोड़ आई है, किसी का पति खेत में काम करने लगा होगा, किसी के कोई होगा ही नहीं और काम करते-करते अगर उनकी सुधि आ ही जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता हो ही उठती है, तो वह भी हमारी आज की सभ्यता को सह्य नहीं है। (निंदिया लागी) यहीं नहीं उन्होंने भगवान तक को नहीं छोड़ा है—'एक निराश्रित वृद्धा तक को तुम इतना दुःख देते हो और कहलाते हो दयाधाम। तुम्हारी सृष्टि में ऐसे-ऐसे नर-पिशाच बसते हैं कि अस्थियों के ढाँचे तक को आघात दबाये बिना नहीं चूकते और तुम कहलाते हो जगदीश। निरंकुश, यही है तुम्हारा न्याय?" (आत्मघात), इससे प्रतीत होता है कि वाजपेयीजी के हृदय में दीनों के प्रति दयार्द्रता है।

कहानी-कला का उत्कर्ष पाठक की जिज्ञासावृत्ति

को जगाये रखने में है। पाठक ग्रारम्भ से एक ग्रनिश्चय तथा सन्देह में उलझता हुआ जब ग्रन्त में रहस्योद्घाटन पाकर स्तम्भित रह जाता है, तब कहानी की सफलता समझी जाती है। बाजपेयीजी की कहानियां इस दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। 'ग्रपमान का भाग्य', 'झाँकी', 'त्याग', 'हत्यारा', 'उस क्षण का सुख', 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब', 'यदि', 'ट्रेन पर', 'कबाड़ी', 'इन्द्रजाल', 'हारजीत', 'निंदिया लागी', 'कला की दृष्टि', 'ग्रात्मघात', 'चोर', 'स्पर्धा' इत्यादि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इनमें पाठक ग्रन्त में जाकर चमत्कृत रह जाता है। किसी-किसी कहानी का ग्रन्त तो इतना मार्मिक होता है कि जिसका प्रभाव पाठक के हृदय पर ग्रत्यन्त गहरा पड़ता है तथा वह मधुर करुण भाव से विभोर हो जाता है। यथा:—ठीक तो है। लकड़ी सब चिर गई है। केवल एक कुन्दा शेष है। के—व—ल। (सूखी लकड़ी) पात्री के जीवन की पूँजीभूत करुणा जैसे एक वाक्य में व्यंजित होकर पाठक के मर्म को विद्ध कर गई।

वाजपेयीजी को कवि-हृदय प्राप्त है। इसी कारण उनकी कहानियाँ भावुकता से परिपूर्ण हैं। उनमें मुक्तक-काव्य जैसी ग्रनुभूति की तीव्रता तथा प्रभाव की मार्मिकता है। शैली में भी काव्यत्व स्पष्ट झलकता है। यथा:—'स्वप्न से ग्रकल्पित मिलन की यह विस्मय विदग्धता, प्रशान्त धारा के बीच यह ग्राकस्मिक भ्रम संपात, मानो भोली मृगछौनी की लज्जाशीलता का चरम उत्थापन। (झाँकी) कहीं-कहीं भाषा में ग्रलंकरण की छटा काव्य-तत्व को ग्रौर भी तीव्र कर देती है। वाजपेयीजी ने प्रतीकात्मक भाषा द्वारा भी मार्मिक चित्र ग्रंकित किये हैं—सूखी लकड़ी, हाँ सूखी लकड़ी है वह। उसके जीवन के ग्राम्र-तरु में न यष्टि है न किसलय। मंजरियों की कौन कहे कितने पथिक उसके निकट से ग्रा-ग्रा चले गये, कितने पक्षी उसके निरभ्र ग्रम्बर में नित्य उड़ते रहते हैं, किन्तु इससे क्या? वह सूखी लकड़ी जो है।" (सूखी लकड़ी) नारी के वेदना एवं निराशा से पूर्ण उपेक्षित जीवन का मार्मिक चित्र कितना काव्यमय है? लेखक ने ग्रनेक कहानियों के शीर्षक भी प्रतीकात्मक दिये हैं—'सूखी लकड़ी', 'खाली बोतल', 'ग्रँधेरी रात' 'इन्द्रजाल' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। प्रतीकात्मक शैली के प्रयोग से कहानियों के प्रभाव में ग्रभिवृद्धि हो जाती है ग्रौर वे वांछित लक्ष्य तक पहुँच जाती है।

कहीं-कहीं वाजपेयीजी की दार्शनिकता भी कहानियों में ग्रभिव्यक्त हो जाती है। इसी कारण इनकी कहानियाँ सामान्य धरातल से उठ जाती हैं और वे विशिष्ट पाठकों की वस्तु हो जाती हैं। यह दार्शनिकता दो रूपों में दिखाई पड़ती है—'एक तो पात्रों के जीवन में, दूसरे लेखकों की ग्रपनी उक्तियों में, 'निंदिया लागी' के बेनीमाधव तथा विच्छेद का पंकज ऐसे ही पात्र हैं, जिनके जीवन में एक दार्शनिक गम्भीरता है। ऐसे पात्रों का चरित्र विशिष्ट रेखाग्रों से घिरा हुआ है। कहीं-कहीं भाषा में भी दार्शनिकता का पुट मिलता है—यह तो क्षण-भंगुर है, यह तो ग्राज है, कल नहीं, जो ग्रक्षय है, ग्रमृत है, ग्रनन्त है उसे ही क्यों नहीं खोजता?" (विद्रोही) इन दार्शनिक विचारों से कहानी में गम्भीरता ग्रा जाती है। हृदय ग्रौर बुद्धि का यह समन्वय भी वाजपेयी की कला की विशेषता है।

वाजपेयीजी ने ऐतिहासिक प्रणाली में ग्रधिक कहानियाँ लिखी हैं। किन्तु उत्कृष्टतम कहानियाँ ग्रात्मचरित प्रणाली में लिखी गई हैं। ग्रात्मचरितात्मक कहानी लिखना वास्तव में ग्रत्यन्त जटिल है। उनमें कहानीकार को ग्रपनी ही ग्रात्मा का उद्घाटन जैसे तटस्थ रहकर करना होता है। वाजपेयीजी इसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। उन्होंने 'पुनर्विवाह', 'परीक्षा' तथा 'प्रयाण' इत्यादि कहानियाँ पत्र-प्रणाली में भी सफलता के साथ लिखी हैं।

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से वाजपेयीजी ग्राज के सफल कहानीकार हैं। उन्होंने कहानी-कला को सूक्ष्मता, गहराई ग्रौर हृदय का रस देकर पोषित किया है। इसी कारण उनमें मर्म को स्पर्श करने की शक्ति है। ग्राशा है, वे नवीन परिवेश में भी ग्रपनी कहानी-कला का चमत्कार प्रकाशित करते रहेंगे।

—ए १५, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स
ग्रमरावती रोड, नागपुर।

'कुरुक्षेत्र' का काव्यात्मक आकर्ष

● डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

काव्य मनुष्य की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की एक प्राचीन विधा है। पहले यह शब्द साहित्य का पर्यायवाची था किन्तु बाद में इसके दृश्य-काव्य एवं श्रव्य-काव्य—केवल दो भेद माने गये। दृश्य-काव्य रूपक या नाटक कहा जाने लगा। उसमें जब गद्य की प्रधानता हो गई तो 'काव्य' शब्द का अर्थ अपनी पुरानी व्यापकता छोड़कर कविता के अर्थ में संकीर्ण हो गया किन्तु उसके स्वरूप की मूल प्रवृत्तियाँ उसमें निहित रहीं। आज तक कविता या काव्य शब्द साहित्य की जिस विधा के लिए प्रयुक्त होता रहा है, वह विधा आधुनिक या मध्यकाल की सृष्टि नहीं है। अनुभूति की अभिव्यक्तिगत लक्षण खोजने वाले आरम्भिक आचार्यों ने इस विधा को क्रमशः जन्म दिया था और उसके सिद्धान्त बनाये थे। उस परम्परा में इस विधा का जिस रूप में विकास हुआ है और लक्षण निर्धारण किए गये हैं, उन्हें आधार बनाये बिना किसी भी आधुनिक कवि या आलोचक की किसी कृति-विशेष को काव्य या कविता या उसके भेद—प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य आदि कहना उचित नहीं है। कोई भी कवि या आलोचक अगर उस परम्परा से अलग हटकर किसी नये स्वरूप में अपनी अनुभूतियाँ अभिव्यक्त करता है, तो उस स्वरूप को उसे किसी नई विधा का नाम देने का आग्रह रखना चाहिए, न कि पुरानी विधा के उन पुराने नामों का आग्रह रखे, जिनको सिद्धान्ततः वह नहीं मानता। अस्तु

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' ग्रन्थ-काव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि :—

(१) इसमें अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

(२) इसमें काव्य के शिल्प को आधार बनाया गया है।

(३) निषेधात्मक दृष्टि से कहें तो हमें कहना चाहिए कि इसमें उन बातों का अभाव है, जो बातें काव्य के स्वरूप और तत्वों की विरोधिनी हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य की परिभाषा निर्धारित करते समय काव्य के जो भेद किये थे, उनमें से यह किसके अन्तर्गत आता है। यहाँ काव्य शब्द का प्रयोग उस सङ्कीर्ण अर्थ में ही किया जा रहा है, जिस अर्थ में वह आधुनिक-काल तक प्रयुक्त होता आया है। अतः इसमें दृश्य काव्य नामक भेद सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार जिस अर्थ में काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है, उनके निम्नांकित भेद प्राचीन आचार्यों ने निर्धारित किये हैं :—

प्रबन्ध-काव्य—वह काव्य जिसमें आरम्भ से अन्त तक किसी कथा के माध्यम से समस्त अभिव्यक्ति में एकसूत्रता का निर्वाह किया जाता है तथा सामान्य स्थिति से जिसे आरम्भ करके क्रमशः आरोह पूर्वक अवरोहात्मक उपसंहार की ओर ले जाया जाता है। इस प्रकार के काव्य में केवल कथा की ही नहीं, विचार और भाव की भी एकसूत्रता रहती है। विचार अन्त में जाकर किसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है और भाव अन्त में जाकर किसी प्रधान रस को निष्पन्न करता है। कथा, भाव एवं विचार के इन समानान्तर सूत्रों के निर्वाह का उत्तरदायित्व काव्य के नायक को निभाना पड़ता है। यह नायक अनुभव करने वाले अन्तर की, कवि की, निजी अनु-

भूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप होता है। वह स्वयं सूक्ष्म रूप में नायक बनकर पूर्वोक्त तीनों सूत्रों में एकाकार होकर बहता हुआ पाठक के हृदय में प्रवेश करता है और इसीलिए उसे भी वही अनुभूति देता है, जो अनुभूति कवि के व्यक्ति को हुई थी। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध-काव्य के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि उसमें आरम्भ से चलने वाले कथा, विचार और भाव के सूत्र कहीं भी में खण्डित न हों, अपने नायक का साथ न छोड़ें और पाठक तक फल के रूप में उस अनुभूति को ज्यों का त्यों पहुँचाये, जो अनुभूति कवि को हुई थी। इस प्रकार रचे जाने वाले प्रबन्ध-काव्य के विषय-विस्तार की दृष्टि से खण्डकाव्य, एकार्थक काव्य और महाकाव्य नामक तीन भेद किये गये हैं।

मुक्तक-काव्य—काव्य का दूसरा भेद मुक्तककाव्य होता है और इसके गीत, प्रगीत, मुक्तक तथा सङ्कीर्ण अर्थ में 'कविता' आदि कई उपभेद होते हैं।

चूँकि दिनकरजी ने कुरुक्षेत्र को स्वयं प्रबन्ध-कविता कहा है, इसलिए मुक्तक-काव्य और उसके उपभेदों की चर्चा करना यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होता। हमें केवल यह देखना है कि दिनकरजी और उनके आलोचक प्रबन्ध-कविता कहकर कुरुक्षेत्र को किस प्रकार का प्रबन्ध काव्य मानते हैं और उसका आधार क्या है ?

दिनकर ने स्वयं भूमिका में यह स्वीकार किया है कि—"कुरुक्षेत्र की रचना भगवान् व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर या भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था; किन्तु तब वह रचना शायद प्रबन्ध के रूप में न उतर कर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि दिनकरजी तीन बातें स्वीकार करते हैं :—

१—जो कुछ उन्होंने कहा है, यदि उसमें से युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग हटा दें तो भी कोई बाधा नहीं आती।

२—वे इसे मुक्तक न मानकर प्रबन्ध ही कहना चाहते हैं।

३—उनके पास इसे प्रबन्ध का रूप देने को कोई निश्चित योजना न थी।

इन तीनों बातों में परस्पर विरोधाभास है। पहली और तीसरी बात से कवि के कथन के आधार पर ही यह सिद्ध होता है कि यह प्रबन्ध काव्य नहीं है। अब यदि कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य मानने के लिए कवि के दृष्टिकोण पर ध्यान दिया जाय, तो केवल एक ही तर्क शेष रह जाता है कि कवि स्वयं अपने काव्य को प्रबन्ध काव्य मानना चाहता है। अधिकांशतः मुक्तक-काव्य का प्रेमी कवि 'दिनकर' इस काव्य में प्रबन्ध-काव्य पर अधिक बल क्यों दे रहा है, इसका कारण समझ में नहीं आता। लेकिन कवि के दृष्टिकोण का आधार कुछ भी हो, हमें तो उसकी रचना के विश्लेषण से जो तथ्य उपलब्ध होता है, उसी को प्रमाण मानना चाहिए, अतः अब हम रचना का विश्लेषण करके देखें कि वह प्रबन्ध-काव्य है या नहीं ?

प्रबन्ध-काव्य के आधार पर कुरुक्षेत्र एक प्रबन्ध-काव्य सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि—

१—कुरुक्षेत्र में कोई ऐसी कथा नहीं हैं, जिसका क्रमबद्ध विकास हुआ हो। ऐसी घटनाएँ भी नहीं है, जिनको किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रमशः संगुफित किया गया हो, जिस प्रकार 'प्रिय-प्रवास' में किया गया है। सत्य बात तो यह है कि कुरुक्षेत्र में घटनाएँ हैं ही नहीं और इसीलिए कथावस्तु का भी निर्माण नहीं हो सका है, महाभारत के युद्ध का अवसान युधिष्ठिर के मन में जो ग्लानि उत्पन्न करता है, उसके पश्चात् की मनःस्थिति ही काव्य का विषय बनी है और उस मनःस्थिति को निवारित करने के लिए भीष्म पितामह के उपदेशों की योजना की गई है। उन उपदेशों में कारण के रूप में द्रौपदी के अपमान आदि के कुछ संकेत मिलते हैं, जिन्हें घटना नहीं कहा

[1] निवेदन, पृष्ठ १।

जा सकता। अतः समस्त काव्य में विषय गतिशील नहीं है। एक ही केन्द्र पर युधिष्ठिर और भीष्म के भाव और विचार अभिव्यक्त होते रहे हैं। फलतः काव्य-विषय के विकास, आरोह, अवरोह आदि के लिए कुरुक्षेत्र में कहीं अवकाश नहीं है।

२—यदि भाव के विकास को आधार बनाकर कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य माने तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि भावों को प्रवाहित करने वाली कथा के अभाव में काव्य की समस्त भाव-व्यञ्जना कवि की आत्मानुभूति की व्यञ्जना बन गई है, जो भीष्म और युधिष्ठिर आदि पात्रों के होते हुए भी पात्रों की भाव-व्यंजना नहीं है। वह प्रत्यक्षतः कवि की अपनी लगने वाली भाव-व्यंजना है। अगर पात्रों की भाव-व्यञ्जना हुई होती तो हम भाव में एक विकास-क्रम मान सकते थे और थोड़ी देर के लिए कथा की उपेक्षा भी कर सकते थे। किन्तु हम देखते हैं कि युधिष्ठिर और भीष्म दोनों ही भाव की दृष्टि से बालू की दीवार पर खड़े हैं। वे अपनी निजी भावानुभूति की स्थिति-जन्य दृढ़ता कहीं भी प्रकट नहीं कर सके। जहाँ एक सर्ग में भीष्म भाग्य का समर्थन करते हैं, वहां दूसरे सर्ग में वे ही भाग्य का विरोध करते हैं। इसी प्रकार भाव सम्बन्धी अन्य स्थितियाँ भी देखी जा सकती हैं। उन सब में विकास-क्रम नहीं है, केवल मानसिक सङ्घर्ष का क्रम है। किसी एक भाव की इस काव्य में प्रधानता नहीं है। भिन्न-भिन्न भाव भीष्म के हृदय में आते हैं और किसी एक विशेष भाव में सुनियोजित हुए बिना ही समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए यह काव्य प्रबन्ध-काव्य के लक्षणों के के अनुकूल किसी रस की निष्पत्ति नही करता है, अतः भाव और रस की दृष्टि से भी कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध काव्य नहां कहा जा सकता।

३—प्रबन्धकाव्य में पात्रों के चरित्रों का सुनियोजित विकास-क्रम अनिवार्य होता है, क्योंकि उनके बिना कथा और भाव का विकास नहीं हो सकता, न काव्य के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। कुरुक्षेत्र में भीष्म और युधिष्ठिर केवल दो प्रत्यक्ष पात्र हैं किन्तु ये भी नाम के लिये हैं, जैसा कि कवि ने स्वयं स्वीकार किया है। साथ ही इन पात्रों का चरित्र भी चित्रित नहीं हुआ है, अतः इस दृष्टि से भी प्रबन्ध-काव्य नहीं है।

४—प्रबन्ध-काव्य में विभिन्न वर्णनों की प्रधानता रहती है। कुरुक्षेत्र में महाभारत के अन्त का दृश्य मात्र वर्णित है। अतः वर्णनों का भी अभाव ही कहा जा सकता है। प्रकृति का वर्णन तो इस प्रबन्ध-काव्य में बिल्कुल ही छूट गया है। एक सफल मुक्तक काव्य के लिए भी प्रकृति का वर्णन अपेक्षित होता है, किन्तु वह इसमें न होने के कारण एक श्रेष्ठ मुक्तक-काव्य मानने में भी बाधा आती है।

५—प्रबन्ध-काव्य में समय-संकलन आवश्यक होता है। कुरुक्षेत्र में महाभारत काल से लेकर आधुनिक विज्ञान के युग तक की भाव-भूमि चित्रित हुई है, इसलिए समय की एकता भी इस काव्य में नहीं है।

६—अब केवल एक आधार रह जाता है जिस पर हम कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य कह सकते हैं। वह है विचार का आधार। कवि ने 'युद्ध क्यों होता है और कैसे समाप्त हो सकता है ?' इस विचार को समस्त काव्य में फैलाया है। निश्चय ही कवि ने इन प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि समाज में विषमता-जन्य अन्याय और मानसिक क्षोभ पैदा करता है। जब वह क्षोभ चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब अन्याय को मिटाने के लिए जो अन्यायग्रस्त होता है, वह युद्ध को आमन्त्रण देता है, जब तक आर्थिक विषमता समाप्त नहीं हो जाती और गांधीवादी पद्धति पर सर्वोदयी साम्यवाद की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती, तब तक विवेकशील मनुष्य को निरन्तर उसके लिये संघर्ष करते रहना चाहिये। पलायनवादी वृत्तियाँ अपना कर संघर्ष से सन्यास लेना उचित नहीं। अगर बराबर सर्वोदयी साम्यवाद के उद्देश्य की पूर्ति के लिये शान्तिपूर्ण ढंग से संघर्ष किया जाय, तो उद्देश्य की उपलब्धि हो सकती है और एक ऐसा समय आ सकता है जब संसार में युद्ध की समस्या न रहे।

निश्चित ही कवि ने इस विचार का विस्तार से विकास किया है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा व्यक्ति-समाज, लोक-परलोक, आत्मा-ईश्वर आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से मुख्य विचार के सभी पहलुओं को देखा गया है। प्राचीन और आधुनिकतम आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक दृष्टियाँ, विचार को विकसित करने के लिये अपनाई गई हैं और उनकी उपलब्धि भी सामने आई है जिसको निष्कर्ष रूप मे अन्तिम छन्दों में दिया गया है। अतः विचार की दृष्टि से हम इसे प्रबन्ध-काव्य मान सकते हैं। लेकिन यह दृष्टि परम्परागत दृष्टि नहीं है। प्रबन्ध-काव्य रचना की नई दृष्टि कही जा सकती है। जिसका दिनकरजी ने प्रयोग किया है। अगर इसको परम्परागत विचार-सूत्र के रूप में कथा के माध्यम से निभाया गया होता तो निश्चय ही यह एक शुद्ध प्रबन्ध-काव्य हुआ होता। चूँकि कवि का आग्रह उसे प्रबन्ध-कविता कहने का रहा है, इसलिए परम्परा से हटने वाली बात काव्य के स्थान पर कविता शब्द का प्रयोग करके उसने स्वयं स्वीकार की है। कविता में वह भाव निहित नहीं हो सकता, जो काव्य शब्द में निहित होता है, किन्तु कविता का विभाजन सर्गों में नहीं किया जाता। अविभाजित एक सूत्र में बँधी हुई काव्यात्मक अनुभूति ही कविता होती है। दिनकरजी ने सर्गों का विधान करके कविता को उसकी संकीर्णता से हटाकर काव्य-शास्त्र के व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। अतः प्रबन्ध कविता कहकर वे इस आरोप से नहीं बच सकते कि—यह एक ऐसा काव्य है जिसकी रचना मुक्तक की शैली में की गई है किन्तु विचार और उसका विभाजन प्रबन्ध की शैली में किया गया है। अतः कुरुक्षेत्र एक असफल प्रबन्ध-काव्य ही नहीं, असफल मुक्तक काव्य भी है। कथा और भाव के विकास-क्रम के अभाव में यह काव्य प्रबन्ध-काव्य के आसन से गिर गया है, किन्तु गिरकर मुक्तक काव्य के आसन, तक नहीं पहुँच सका, उससे प्रभाव लेकर बीच में अलग खड़ा हो गया है और समस्त भारतीय साहित्य की काव्य परम्परा में विधा की दृष्टि से अब भी अकेला खड़ा हुआ है। कथा के सूक्ष्म तन्तुओं को लेकर भाव का विकास-क्रम प्रबन्ध का आधार बना है। ऐसी कृतियों में कुरुक्षेत्र के पात्रों की तरह पात्रों को भी कठपुतली मात्र नहीं बनाया गया। 'सारथी', 'कनुप्रिया' और 'संशय की एक रात' काव्य इसका प्रमाण है।

—१५६, अशोकनगर, उदयपुर।

काव्येतिहास और काव्यात्मा

• प्रेमनारायण दुबे

भारतीय साहित्य में प्रारम्भ से ही काव्य शब्द का प्रयोग समस्त वाङ्मय के लिए होता था किन्तु 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' वाली उक्ति इसकी परिचायक है कि नाटक से ही काव्य के स्वरूप के अध्ययन की चेष्टा प्रारम्भ हुई, जिसके अन्तर्गत भरतमुनि से लेकर क्षेमेन्द्र तक के उन सभी काव्य शास्त्रियों के मताभिमत समाहित हो जाते हैं। जिन्होंने काव्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा, परखा तथा उसके स्वरूप निर्धारण के प्रयास किये। काव्य के अध्ययन मनन की इस दीर्घावधि को हम काव्य की आत्मा के विकास का युग कहकर सम्बोधित कर सकते हैं। इस समस्त काल में काव्य की आत्मा को लेकर बड़ा मतवैभिन्न दीख पड़ता है। भरत मुनि ने रस को, आचार्य भामह, उद्भट तथा रुद्रट ने अलंकार को, दण्डी तथा वामन ने रीति को, कुन्तक ने वक्रोक्ति को, आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव गुप्त ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। क्षेमेन्द्र का औचित्य निरूपण इनके सामंजस्य का एक प्रयास कहा जा सकता है किन्तु मौलिकता के दृष्टिकोण से उसका उतना महत्त्व नहीं है।

काव्य की आत्मा की खोज की शृङ्खला में सर्वप्रथम रसवादी भरतमुनि का नाम उल्लेखनीय है। रस के सम्बन्ध में राजशेखर का एक और मत मिलता है तद्नुसार रस का निरूपण नन्दिकेश्वर ने सर्वप्रथम ब्रह्मा के उपदेश से किया किन्तु इस कल्पना में ऐतिहासिकता उतनी ही कम है जितनी अधिक कल्पना है और फिर नन्दिकेश्वर के मत का कोई पता भी नहीं मिलता। भरत ने नाट्य के संदर्भ में ही काव्य का विवेचन किया है। उनकी परिभाषा है—

"मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमनृत्योज्यम्।
बहुमृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्
सभवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥"

नाट्यशास्त्र १६।११८

भरत ने काव्य में रस को महत्व दिया है। उन का रस सूत्र है:—"विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" विभाव दो होते हैं आलम्बन तथा उद्दीपन। विभाव स्थायी भावों के उद्दीपक कारण हैं। अनुभाव भावानुभूति की व्यक्त चेष्टाएँ हैं यथा भ्रूक्षेप, कटाक्षादि। व्यभिचारी भाव अन्तर्मानस में संचरण करने वाले स्थायी भाव हैं।

आचार्य भरत के उक्त सूत्र को लेकर भट्टलोल्लट शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने अपने मत प्रस्तुत किये। भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं उनके मतानुसार कल्पना प्रसूत नायक-नायिका का रस वास्तविक होता है, जिसकी प्रतीति सामाजिक नट-नटी के माध्यम से करता है। उनका रस के प्रति दृष्टिकोण विषयगत है। शंकुक अनुमितिवादी हैं। उन्होंने रस की प्रतीति न मानकर "चित्र-तुरंग-न्याय' से अनुमान की दृष्टि अपनायी है। भुक्तिवादी भट्टनायक ने विभावादि का रस से भोज्य-भोजक सम्बन्ध माना तथा अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व की धारणा का प्रतिपादन किया। अभिनव गुप्त व्यक्तिवादी हैं। इनके मतानुसार सहृदय में स्थित मनोविकार विभावादिकों के द्वारा साधारणीकृत होकर आनन्दमय रस-स्थिति को प्राप्त होते हैं। उनका

यह मौलिक प्रतिपादन सर्वत्र मान्य हुआ। साधारणीकरण की अवस्था का स्पष्ट परिचय साहित्य-दर्पण का यह श्लोक देता है :—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥३।१२

इसमें रसवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप जो सम्प्रदाय उठ खड़े हुए उन्हें काव्य की आत्मा के अन्वेषण की अगली शृङ्खला कहा जा सकता है। इनमें अलङ्कारवादियों तथा रीतिवादी आचार्यों के मत प्रमुख हैं। भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हुए; जिनके टीकाकार थे उद्भट तथा रुद्रट। दण्डी तथा वामन भी इनकी महत्ता स्वीकृत करते हैं। दंडी कहते हैं—"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते" तथा वामन का कथन है कि—"काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलङ्कारः।" इन्हीं की परम्परा में जयदेव का नामोल्लेख भी समीचीन होगा। उनकी चुनौती है कि काव्य को अलङ्काररहीन मानने वाले भाग को ठण्डा क्यों नहीं मान लेते—

अङ्गीकरोति यःकाव्यम्र शब्दार्थावनलंकृती।
असो न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।चन्द्रालोक।

भरत ने नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलंकारों अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक का उल्लेख किया है जिसमें एक है शब्दालंकार तथा शेष हैं अर्थालंकार किन्तु इन्हीं के विकास से कुवलयानन्द में ११५ अलंकार सम्मुख आते हैं। अलंकारों में भी विवेचन करते हुए भामह ने वक्रोक्ति तथा रुद्रट व विद्याधर ने अलंकार भेद के सन्दर्भ में अपने मत प्रस्तुत किये। रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी और समाहित अलंकारों में भामह ने रस तथा भाव को समाहित कर दिया। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थों के स्वरूप समासोक्ति, आक्षेपादि अलंकारों के रूप में वक्रोक्ति व ध्वनि की कल्पना को प्रादुर्भूत किया। किन्तु अलंकारवादियों की सारी चेष्टा के बाद भी अलंकार सम्प्रदाय अपना प्रभुत्व स्थापित करने में विफल रहा।

अलंकारवादियों की भाँति वाह्यपक्ष की तरफ ध्यान रहा रीतिवादियों का, यद्यपि उन्होंने भी रीति में ही रस और ध्वनि की समाहिति का प्रयास किया है। रीति मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य थे वामन। वामन के अनुसार रीति का स्वरूप इस प्रकार है "विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषोगुणात्मा।" प्राचीन युग में "भिन्नरुचिर्हि लोकः" की (कालिदास की) उक्ति का चरितार्थ होना पाया जाता है। रीति का व्यापक स्वरूप प्रवृत्तियाँ थीं जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भौगोलिक विशेषताओं पर आधारित ये प्रवृत्तियाँ क्रमशः इस प्रकार थीं।

१. भारत के पश्चिमी भाग की प्रवृत्तिः आवन्ती
२. दक्षिण भारत की प्रवृत्ति : दाक्षिणात्या
३. उड़ीसा व मगध (पूर्वी भारत) की प्रवृत्ति : औड्मागधी
४. मध्यप्रदेश की प्रवृत्ति : पांचाली

कालान्तर में यह स्वरूप विषयगत हो गया तथा वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियाँ विषय के लिये रूढ़ि बन गई। तदनन्तर कुन्तक ने उन्हें कविस्वाभावाभिव्यक्ति बताकर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यममार्ग की संज्ञा दी। रीति-विवेचन में भामह भेदभाव को महत्व नहीं देते। गुणों से ही काव्य की महत्ता बढ़ती है। उनका कहना है—

अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपिसाधीयो वेदर्भमिति नान्यथा॥

दण्डी ने गुणों के दस भेद बतलाकर वैदर्भी तथा गौड़ी का स्वरूप ही बदल दिया। उनका सूत्र है—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राद्याः दश गुणाः स्मृतः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़ वर्त्मनि॥

वामन ने गुणों के शब्दगुण तथा अर्थगुण दो भेद करके यह स्पष्ट किया कि शब्दगुण बन्ध के गुण हैं किन्तु अर्थगुणों का साम्राज्य विशाल होता है। इनमें रस का समावेश होता है (दीप्तरसत्वं कान्तिः। अर्थदृष्टिः समाधिः।) रुद्रट ने लाटीया नामक अन्य रीति का अन्वेषण किया तथा राजशेखर ने रीति विवेचन के लिए काव्यपुरुष की कल्पना की। किन्तु

रीति का यह महल भी चिरजीवी न हो सका। रसवादी आनन्दवर्धन ने 'पदसंघटनारीतिः अंगसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्' कहकर उसकी आलोचना की।

रीति के पश्चात् वक्रोक्तिवादियों का क्रम आता है। कुन्तक को वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहने का श्रेय है। 'वक्रोक्तिजीवित' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने इसकी विशद् व्याख्या की है। कुन्तक ने कहा है—"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते।" यह चमत्कारी कथन ही वक्रोक्ति है। कुन्तक की कल्पना सर्वथा मौलिक नहीं कही जा सकती क्योंकि इससे पूर्व भामह भी कह चुके थे—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविता कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

कुन्तक ने वक्रोक्ति में ध्वनि को भी प्रायः संपृक्त रखा है मुख्यरूप से वक्रोक्ति के उन्होंने छः प्रकार बताये हैं—वर्णवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता। अलंकार और रीति की भांति ही वक्रोक्ति की वैसी प्रतिष्ठा काव्य-जगत में न हो सकी जैसी अपेक्षित थी।

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के पश्चात् काव्य आत्मा की खोज के लिए आनन्दवर्धन सम्मुख आते हैं। वस्तुतः उन्होंने ध्वनि के रूप में रस की पुनर्प्रतिष्ठा की। उनके मतानुसार रस सदैव व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं, अतः उन्होंने ध्वनि की महत्ता प्रतिपादित कर 'ध्वनि-सम्प्रदाय' की स्थापना की। उनका कथन है—

यत्रार्थः शब्दो वा समर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सरिभिः कथितः॥
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांग तु रसादयः।
काव्येतस्मिन्नलंकारो रसादिरित मे मतिः॥

जिस काव्य में शब्द अथवा उसका वाच्यार्थ, अथवा दोनों एक साथ अपने वाच्यार्थ को तथा स्वयं को गौण बनाकर किसी अलौकिक रमणीयता वाले व्यंग्यार्थ को अभिव्यञ्जित करते हैं, उस काव्य को ध्वनि कहा जाता है। ५१ प्रकार की ध्वनियों में उन्होंने रसध्वनि, अलङ्कार और वस्तुध्वनि को प्रमुख माना है। ध्वनि की महत्ता के आधार पर ही उन्होंने काव्य का विभाजन इस प्रकार किया है—ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य। इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय में गुण 'नित्य-धर्म' तथा अलंकार 'अनित्य धर्म' के रूप में प्रतिस्थापित हैं।

इन सबके अन्त में क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने औचित्य विचार से तथाकथित काव्य के विभिन्न मूल तत्वों को एकात्म रूप दिया है तथा सन्तुलन का मार्ग अपनाया है। क्षेमेन्द्र की सम्मति में रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही होता है—

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"

औचित्य के २७ भेदों में नामौचित्य, अलंकारौचित्य, वृत्तौचित्य, पदौचित्य प्रमुख हैं। औचित्य के बिना गुण और अलंकार की स्थिति क्या होती है इसका सुन्दर चित्रण उन्होंने अपने इस श्लोक में किया है

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपूरबन्धनेन, चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येणप्रणते, रियौ करुणाया नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन बिना रुचि प्रतण्डते नालंकृतिनो गुणाः॥

काव्य-शास्त्र के विकास पर समग्रतः दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होगा कि रस की महत्ता काव्य में सदैव सर्वोपरि रही है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकारा है। अलंकारवादियों ने रसवत्, प्रेय, उर्जस्वाद्यालङ्कारों में उसकी समाहिति की तथा रीतिवादियों ने गुणों के निरूपण के द्वारा रसाभिव्यंजना को महत्ता दी। वामन ने कान्तिगुण के भीतर ही रस की निहित मानी है। (दीप्तंरसत्वं कान्तिः)। कुन्तक ने वक्रोक्ति में भी व्यंजना को महत्ता देकर ध्वनि का प्रकारान्तर से विवेचन किया है, जिसे विकसित किया आनन्दवर्धन ने। उन्होंने व्यंग्य को ही रस माना। क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य की परिधि में रस को शीर्ष स्थान दिया।

रस सम्प्रदाय से लेकर औचित्य तक काव्य की आत्मा के अन्वेषण का यह अनवरत इतिहास भारतीय काव्य के विकास के ही लक्षण प्रस्तुत करता हो यह नहीं, इसी क्रम से काव्य की आत्मा की खोज में सन्निहित यूरोपीय वाङ्मय भी विकास के चरण पर क्रमशः अग्रसर होता दीख पड़ता है।

अरस्तू का त्रासदी के माध्यम से मनोवेगों का उद्वेग तथा उसके शमन पर विश्वास भावों के साधारणीकरण तथा रस-निष्पत्ति की कल्पना नहीं तो और क्या है? Wordsworth का कविता के लिए "Sponteneaous overflow of powerful feelings" भी भावोच्छलन की महत्ता का प्रतीक है। तन्मयता की इस स्थिति के इसी क्रम में emotions recollected in tranquality से अनायास ही शाकुन्तल का श्लोक स्मरण हो आता है—

रम्याणिवीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यतसुखिनांऽपिजन्तुः॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमपि बोधपूर्वम्।
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि॥अंक ५॥

अरस्तू के काव्य-निरूपण की बागडोर थामकर चलने वाले होमर, विरीजल, हॉरेस व पोप जैसी विभूतियों की रूढ़िवादी धारणाएं तथा १६वीं शताब्दी से १८वीं शती का युग यूरोप के लिए रीतिकाव्य का युग कहा जा सकता है। अरस्तू, डिमेट्रियस, शोपेनहावर, स्टिवेन्सन, वाल्टर रेले, क्विन्टीलियन तथा विन्चेस्टर के विचार बहुत हद तक हमारे यहाँ के रीतिवादी आचार्यों से साम्य रखते हैं। वक्रोक्ति और क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को लेकर हिन्दी साहित्य संसार ने जो उठा-पटक मचाई वह सर्वविदित ही है। ध्वनि में व्यंजना का महत्व आनन्दवर्धन ने ही माना हो ऐसा नहीं। १८वीं शती के मान्य अंग्रेजी कवि ड्राइडन ने भी यही बात कही थी—"मोर इज् मेण्ट देन मीट्स दी ईअर"। एवरक्राम्बी ने भी व्यंजना को अत्यधिक महत्व दिया था। इस तरह इस समस्त विवेचन से यही ज्ञात नहीं होता है कि भारत या यूरोप के काव्यशास्त्र का इतिहास उस राष्ट्र या भूखंड विशेष के काव्य की आत्मा के अन्वेषण का परिणाम है; अपितु इससे जो नई दृष्टि मिलती है वह यह है कि समग्र काव्यशास्त्र का इतिहास ही, चाहे वह किसी भी साहित्य से सम्बद्ध क्यों न हो उसके गूढ़ातिगूढ़ तत्व, उसकी आत्मा के अन्वेषण का परिणाम हैं।

—एफ० ८३/४१—१२५० क्वार्टर्स,
साउथ टी० टी० नगर, भोपाल (म० प्र०)

आधुनिक कविता में बिम्ब-विधान

● डा० प्रेमप्रकाश गौतम

छायावादोत्तर प्रयोगनिष्ठ काव्य और नयी कविता में बिम्बविधान को कविकर्म का प्रमुख अंग मानकर उस पर अत्यधिक बल दिया गया है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के उपचेतन सिद्धान्त में विश्वास करने और संवेदना-प्रधान होने से प्रयोगवाद और नयी कविता में प्रतीकात्मक, विशृङ्खलित और खंडित बिम्बों का बाहुल्य रहा है। कहा जाता है कि इस प्रकार के बिम्बों में अत्यधिक और अत्यन्त व्यापक अर्थवत्ता होती है। इन बिम्बों के संकेत से पाठक के मनमें संवेदना जागृत कर बिम्बों की सृष्टि की जाती है। परन्तु इस प्रकार के बिम्बों का मनोविश्लेषण की दृष्टि से भले ही कितना ही महत्व हो, काव्यदृष्टि से इनका महत्व बहुत कम होता है। और प्रायः तभी होता है जब ये अनुभूति-प्रेरित (मात्र बौद्धिक न होकर रागात्मक स्पर्शयुक्त) भी होते हैं।

परवर्ती काव्य में छायावादी परम्परा के और तद्भिन्न सांस्कृतिक, प्राकृतिक और भावात्मक बिम्बों का प्रचुर निर्माण हुआ है। परन्तु आत्मानुभूतियों के व्यंजक वैसे 'टेशियरी इमेज' छायावादोत्तर काव्य में नहीं हैं जैसे महादेवी, प्रसाद आदि के काव्य में हैं। ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक बिम्ब परवर्ती काव्य में अपेक्षाकृत अधिक हैं। प्रगतिवाद और प्रयोगशील काव्यधारा में सामाजिक, आर्थिक विषमताओं के चित्रों के साथ अतीतकालीन भारतीय संस्कृति के भी चित्र प्राप्त होते हैं। छायावाद की अस्पष्टता, सुघड़ता और सूक्ष्मता का विरोध करते हुए इन कवियों ने प्रायः स्पष्ट किन्तु अनगढ़, मांसल और स्थूल चित्र प्रस्तुत किये। प्राकृतिक चित्रों के साथ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चित्र और आज की वैज्ञानिक यान्त्रिक सभ्यता के भी चित्र उपस्थित किये गये। इनके साथ अतृप्त वासना के अश्लील चित्रों की भी योजना हुई। पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक बिम्ब भी प्रगतिवादी काव्य में प्राप्त होते हैं। परन्तु छायावादियों जैसी रागात्मकता और प्रखर समृद्ध कल्पना न होने से प्रगतिवादी रचनाकारों के (प्रयोगवादी और नयी कवितावादी रचनाकारों के भी) काव्य में छायावादी काव्य जैसे सजीव और सरस बिम्ब अत्यन्त विरल हैं।

हिन्दी की प्रगतिवादी कविता में बौद्धिकता और यथार्थ के आग्रह के कारण वस्तुपरक, विवरणपरक और दृश्यात्मक बिम्ब अधिक हैं। वस्तुबिम्ब चित्रात्मक और गतिमय दोनों प्रकार के हैं। गत्यात्मक वस्तुबिम्बों में यथार्थ के साथ गति और कहीं-कहीं मनस्थिति का भी अंकन है। उक्त काव्य में नीरस यथार्थवादी चित्र ही नहीं, संवेदनात्मक चित्र भी प्राप्त होते हैं। जो पाठक पर बहुधा विषादात्मक प्रभाव डालते हैं। यथार्थ के आग्रह के कारण वीभत्स चित्रण भी किया गया है। इन कवियों के चित्र कहीं-कहीं काफी मार्मिक हैं। प्राचीन और नवीन अलंकारों से निर्मित अलंकारपरक बिम्ब भी प्राप्त होते हैं। परन्तु प्रगतिशील काव्य में अलंकारयुक्त अरोमानी वस्तुपरक बिम्बविधान के ऐसे स्थल ही अधिक हैं जिन्हें कविता की श्रेणी में रखना कठिन है—

फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी

गर्भभार से अलस-शिथिल हैं अंग अंग
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है,
चला-चला कर जीभ स्वाद लेती ओठों का।
—नागार्जुन

इस प्रकार के अकाव्यात्मक बिम्बों के साथ अलंकार और लक्षणा वाले रागात्मकता के स्पर्श से युक्त बिम्ब भी प्राप्त होते हैं, परन्तु उनमें भी प्रायः वास्तविक काव्य-सौन्दर्य और सरसता की कमी है।

वास्तव में रागात्मक स्पर्श से युक्त सुन्दर सरस बिम्ब प्रगतिवादी काव्य में विरल हैं, परन्तु वे नगण्य नहीं हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य में काव्यात्मक बिम्ब अपेक्षाकृत अधिक हैं।

विस्तृत (विवरणपरक) बिम्ब प्रगतिशील काव्य में प्रचुर हैं। भावात्मक बिम्ब और सान्द्र बिम्ब अपेक्षाकृत कम हैं। बिम्ब विधान और प्रतीक योजना पर इन कवियों का विशेष आग्रह नहीं रहा है। बिम्ब इनके काव्य में सहज रूप में ही आये हैं।

प्रयोगपरक काव्य में प्राकृतिक बिम्बों का छायावादी काव्य की भाँति बाहुल्य है। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक और दैनिक जीवन से सम्बद्ध बिम्ब भी प्रयोगनिष्ठ काव्य में काफी हैं। प्रतीकात्मक बिम्ब भी प्रचुरतः मिलते हैं। सांस्कृतिक बिम्ब इस धारा की रचनाओं में विरल हैं।

प्रयोग-काव्य और नई कविता के निर्माताओं के लिए—विशेषकर अज्ञेय, शमशेर और केदारनाथसिंह के लिए—बिम्ब-योजना कविकर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग रही है। इन दोनों काव्य-धाराओं में बिम्बों की बहुत व्यापक और वैविध्यपूर्ण सर्जना हुई है। बिम्बों के बहुविध मौलिक और सूक्ष्म प्रयोग इन कवियों ने किये हैं। कहीं-कहीं एक साथ अनेक बिम्ब उपस्थित किये गये हैं जो कहीं सम्बद्ध हैं, कहीं असम्बद्ध। असम्बद्ध बिम्ब कभी-कभी अन्त में अन्वित कर दिये जाते हैं। अस्पष्ट, विशृङ्खल और खण्डित बिम्ब भी नयी कविता में प्रचुर हैं।[1] इन कवियों का प्रभाववादी बिम्ब-विधान पर अधिक बल है। दृश्य-बिम्ब भी इस काव्यधारा की रचनाओं में पर्याप्त हैं। अनेक स्थलों पर दृश्यचित्र कवि की मनःस्थिति व्यंजित करते हैं। इन कवियों ने विशेषकर शमशेर ने अवचेतन के गुप्त संवेदनों को बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया है। कहीं-कहीं अत्यन्त सूक्ष्म छवियों का प्रतिबिम्बन किया गया है। रागात्मक की अपेक्षा बौद्धिक बिम्ब इस धारा की रचनाओं में अधिक प्राप्त होते हैं। सामान्य परिचित बिम्बों के साथ बिम्ब-वैचित्र्य का भी आग्रह इन कवियों में रहा है। एक ही उपमा से दृश्यबिम्ब की योजना के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रयोगवादियों ने प्राकृतिक बिम्बों के साथ आधुनिक दैनिक जीवन से सम्बद्ध बिम्ब भी प्रचुरतः अपनाये हैं। कुछ अवतरण द्रष्टव्य हैं—

दो पंखुड़ियाँ झरीं लाल गुलाब की, तकती पियासी
पियासे ऊपर झुके उस फूल को
ओठ ज्यों ओठों तले।
—अज्ञेय

नये उपमानों की चाह ने प्रयोगनिष्ठ रचनाकारों से अधिकतर अकाव्यात्मक बिम्ब योजना ही कराई है—

बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लियाँ सोई हुई
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं
सूरज की खेती चर रहे मेघ मेमने
—नलिन विलोचन शर्मा

खण्ड-बिम्बों की अपेक्षा पारदर्शीपूर्ण बिम्ब निश्चय ही उत्कृष्ट होते हैं। परन्तु पारदर्शी या पूर्ण बिम्ब भी रागात्मकता और अभिव्यक्ति की सहजता से रहित होने पर कविता की सर्जना नहीं कर सकता।

अज्ञेय के काव्य में काव्योचित सरस बिम्बों का अभाव नहीं है। 'वैशाख की आँधी' शीर्षक रचना की इन प्रारम्भिक पंक्तियों में भी काव्योपयुक्त बिम्ब-योजना है—

[1] यह कहना गलत है कि "नयी कविता के खण्डित बिम्बों में जितनी अधिक और व्यापक अर्थवत्ता होती है उतनी पूर्ववर्ती कविता में नहीं थी।"

नभ अन्तर्ज्योतित है
पीत किसी आलोक से
बादल की काली गुदड़ी का मोती
टोह रही है बिजली
ज्यों बरछी की नोंक से।

प्रयोगनिष्ठ काव्य और नयी कविता में अस्पष्ट खण्ड-काव्य वाले भाव-बिम्ब, प्रतिचित्रात्मक तथा गत्यात्मक दोनों प्रकार के वस्तु-बिम्ब, सान्द्र बिम्ब और शिल्प-सौन्दर्य वाले आलंकारिक बिम्ब भी काफी हैं। सान्द्र बिम्ब के उदाहरण-रूप में धर्मवीर भारती की ये पंक्तियाँ बहुधा उद्धृत की गयी हैं। इनमें प्रस्तुत बिम्ब और उनके विधायक सभी उपमान पुराने और रोमाण्टिक हैं और नयी कविता की नवीनता और आरोमानी भावबोध के दावे को पूरा नहीं करते—

रख दिए तुमने नजर में बालदों की साध कर
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर।
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।

भारती ने बिम्ब-विधान मात्र चित्रण के लिए कम, अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए अधिक किया है। सान्द्र बिम्बों के साथ संवेद्य (ऐन्द्रिय) बिम्बों, अनुभूति-बिम्बों और अन्य अनेक प्रकार के बिम्बों का उपयोग उन्होंने किया है। सांस्कृतिक बिम्ब उन्होंने प्रचुरतः अपनाये हैं। कहीं-कहीं उन्होंने एक ही मनस्थिति की व्यंजना के लिए अनेक बिम्बों की परम्परा प्रस्तुत की है।

इस धारा के कवियों में व्यापक विराट कल्पना का प्रायः अभाव होने के कारण लघु तथ्य या अनुभूति को कल्पना की सहायता से विस्तार में प्रस्तुत करने वाले विवृत (विवरणात्मक) बिम्ब उनके कृतित्व में कम हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में (विशेषकर उनके 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की रचनाओं में) विवरणात्मक बिम्ब अन्य कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक हैं। मुक्तिबोध के बिम्ब बहुधा प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हैं। उन्होंने आज के जीवन में व्याप्त भय, घुटन, पीड़ा, क्रूरता, उत्पीड़न और खोखलेपन को व्यक्त करते हुए मानसिक छायाभासों के दृश्य बिम्ब ब्रह्म-राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि प्रतीकों द्वारा निर्मित किये हैं।

इस धारा के कवियों ने ऐसे बिम्ब भी निर्मित किए हैं जिनमें उपमान का उपयोग नहीं किया गया है—

पास के बंसवट से
अचानक चिड़ियों की चहचहाहट
शायद वह मोटी काली बिल्ली
जो कभी कभी मुँडेर पर
पूँछ उठाये दिख जाती है
नाले को पार कर रही होगी।
—विजयदेव नारायण साही

छायावाद-परवर्ती गीतिकाव्य में भी व्यापक कल्पना क्षमता की कमी के आकार की तुलना के कारण विवृत बिम्ब कम हैं। वस्तु-बिम्बों की भी रचना प्रगीत के लघु आकार के कारण कठिन होती है। आलङ्कारिक बिम्ब भी गीति-काव्य में विरल हैं। दृश्य-बिम्ब भी अधिक नहीं हैं। स्पर्श, नाद, घ्राण आदि ऐन्द्रिय अनुभूतियों वाले बिम्ब अवश्य कुछ अधिक हैं। भाव-बिम्बों का भी इस काव्यधारा में अपेक्षाकृत आधिक्य है। कुछ कवियों (नरेन्द्र शर्मा आदि) की रचनाओं में विवृत और आलङ्कारिक बिम्ब भी पर्याप्त हैं। 'नवगीत' में भी नये प्रतीकों और उपमानों से निर्मित नये बिम्ब प्राप्त होते हैं।

नारी-रूप का अङ्कन प्रस्तुत करने वाले रोमानी प्राकृतिक चित्र भी जिनमें मानवीकरण की प्रवृत्ति है, छायावादी कवियों की भाँति, उत्तर-छायावादी रोमांटिक कवियों के काव्य में प्राप्त होते हैं।

परम्परागत सांस्कृतिक प्रतीकों, नये उपमानों और प्राकृतिक उपकरणों से निर्मित सरस बिम्ब इन कवियों की रचनाओं में प्रचुरतः उपलब्ध होते हैं। ताजगी की भी उनमें कमी नहीं है—

रात भर जलता रहेगा कुटी में चुपचाप
भोर होते ही बुझेगा दीप अपने आप
पौ फटेगी, घटेगी तनवर्तिका की आयु

दीप का निर्वाण होगा किरण की सुन चाप।

—नरेन्द्र शर्मा

मन भी बड़ी विचित्र वस्तु है
कभी पहुँच के बाहर हो जाती
लहराती
उन्मन उड़ीना पतंग की
छिन्न डोर-सी
और हाथ में रह जाती है उलझी गुत्थी।[1]

—शिवमङ्गलसिंह 'सुमन'

गीति परम्परा के कुछ कवियों द्वारा प्रगतिवाद और नयी कविता के प्रभाव से रोमाण्टिक प्रवृत्ति से मुक्त व्यावहारिक उपकरणों से निर्मित वास्तविक जनजीवन के यथार्थ चित्र भी कहीं-कहीं प्रस्तुत किये गये हैं।

घर तो पीठ पर है
चार खूंटे गाड़ कर खेमा लगाया
मिल गया जो
पिया खाया, धुंआ छोड़ा
और जी में आ गया तो
गीत कोई गुनगुनाया
या कि यों ही बुड़बुड़ाया
पीठ सीधी की
उठा सामान बाँधा
चल पड़ा कहता हुआ
श्रीराम दण्डक वन विहारी।

—बच्चन

एक दिन एक काला भैंसा
अमावस की रात सा
आयेगा
और इस अंकुराई चाँदनी को
देखते ही देखते चर जायेगा।

—शम्भुनाथसिंह

काव्यवस्तु के अधिकांश में जटिल-संश्लिष्ट और बौद्धिक प्रतीकों के वैयक्तिक होने और साधारणीकरण की चिन्ता न की जाने से प्रयोगनिष्ठ काव्य और नयी कविता के बिम्ब-विधान में बहुधा अस्पष्टता और दुरूहता है, साथ ही रागात्मक स्पर्श का अभाव। विषय-क्षेत्र और अप्रस्तुत क्षेत्र के विस्तृत हो जाने से बिम्ब-योजना में विविधता अवश्य दृष्टिगत होती है। आधुनिक प्रयोगनिष्ठ काव्य धारा और नयी कविता पश्चिम की वर्तमान कविता से—विशेषकर आधुनिक अँग्रेजी और अमेरिकन काव्य से अत्यधिक प्रभावित है। जीवन-दृष्टि, काव्य-दृष्टि, विषय वस्तु, बिम्ब-योजना, प्रतीक, शब्द-विधान सभी दृष्टियों से नये काव्यकार पश्चिम के अनुयायी हैं। परन्तु प्रतीक और अलङ्कार की योजना के समान बिम्ब-सर्जना भी साधन है, साध्य नहीं और साधन-रूप में भी यह अयत्नज अर्थात् सहज-स्वाभाविक होने पर ही स्पृहणीय है।

पाश्चात्य बिम्बवाद के प्रभाव से अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर बहादुर आदि प्रयोगनिष्ठ कवियों में ही नहीं, उनके अनुयायी धर्मवीर भारती, विजय देवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कुँवर नारायण, केदारनाथसिंह, दुष्यन्तकुमार, विपिनकुमार, श्रीकान्त वर्मा, राजेन्द्रकिशोर, मलयज आदि 'नयी कविता' के कवियों में भी बिम्ब-योजना कहीं-कहीं अतिवाद के रूप में उपस्थित हुई है। अनेक रचनाकारों ने बिम्ब को ही साध्य मान लिया है और ये बिम्ब-विधान की सूक्ष्मताओं में उलझ गये हैं। इन कवियों के बिम्ब, जैसा कि डा० नगेन्द्र का कहना है, अधिकतर रागात्मक स्पर्श से रहित हैं और जनजीवन से असम्बद्ध उपमानों से निर्मित हैं।

इन रचनाकारों द्वारा अनेक रचनाओं में मात्र खिलवाड़ी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं बिम्ब पर अधिक बल देते हुए अनुभूति की व्यंजना की ओर कवि ने उचित ध्यान नहीं दिया है। कहीं बिम्बों की लड़ी इतनी प्रमुख हो गई है कि अनुभूति आच्छन्न हो गई है। कहीं, जैसा कि लक्ष्मीकान्त वर्मा का कहना है—'अनुभूतियों की गहराई को स्पर्श किये बिना भाषा

[1] पतंग का यह उपमान बिहारी के 'उड़ी जाय कितहू गुड़ी' से लिया गया है।

और बिम्ब ऊपर-ऊपर तैरते हैं।' अनुभूति की अस्पष्टता या अभिव्यक्ति की अक्षमता के कारण बिम्ब प्रायः उभर नहीं पाते। कुछ कवियों (केदारनाथसिंह, श्रीकान्त वर्मा आदि) ने एक-एक पंक्ति में एक-एक बिम्ब देने का यत्न किया है। बहुधा एक-दो पंक्तियों में खण्ड-बिम्ब प्रस्तुत कर उन पंक्तियों को कविता नाम दे दिया गया है। अनेक स्थलों पर खण्ड बिम्ब भग्नप्राय हो गये हैं। वैज्ञानिक बिम्ब भी कुछ रचनाओं में (जैसे गिरिजाकुमार के 'पृथ्वीकल्प' में) प्राप्त होते हैं। परन्तु वे काव्य-स्तर पर नहीं पहुँच पाये हैं।

नयी कविता के रचयिताओं ने अपनी संवेदनाओं के संप्रेषण अथवा पाठकों में तत्समान संवेदनाएँ जागृत करने के लिए सांकेतिक प्रतीकात्मक बिम्बों की योजना की है। अपने खण्डित-अखण्डित बिम्बों द्वारा पाठक में संवेदना (ऐन्द्रिय बोध) जगाकर वे उसके अवचेतन में उसी प्रकार के बिम्बों की रचना या उन्मोचना करने का यत्न करते हैं।

बिम्ब-विधान को अनुभूति व्यञ्जना का साधक बनाकर नये कवियों ने कहीं-कहीं सुन्दर नये बिम्ब भी प्रस्तुत किये हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं और भावछवियों को बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। लघु संश्लिष्ट बिम्बों और अनुभूति बिम्बों के अतिरिक्त वस्तुचित्र, दृश्य चित्र, चामत्कारिक बिम्ब और 'थरमल' बिम्ब भी नयी कविता में प्राप्त होते हैं। विवरणपरक विराट व्यापक कल्पना की कमी के कारण विरल हैं। परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं, शब्दों के सङ्कुटित मूर्त्त-बिम्ब का विधान अर्थात अल्पतम शब्दों से बिम्ब प्रस्तुत करने का आग्रह कुछ कवियों में इतना अधिक है कि कोई खण्ड या अखण्ड चित्र उपस्थित करने वाली एक-दो पंक्तियों को ही कविता मान लिया जाता है। चित्र तो पाठक की कल्पना के अनुसार एक शब्द से भी उपस्थित हो सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह शब्द या पंक्ति कविता हो।

मनोविश्लेषण शास्त्र और बिम्बवाद में आस्था रखने वाली प्रयोगवादी कविता और नयी कविता में अवचेतन सिद्धान्त की स्वीकृति के कारण खण्डित बिम्बविधान का आधिक्य होने से काफी असम्बद्धता और दुरूहता है। निस्सन्देह मानव—व्यक्तित्व आज अपेक्षाकृत अधिक जटिल एवं संश्लिष्ट है। यह भी ठीक है कि अचेतन प्रतिक्रियाएँ प्रायः विशृङ्खलित होती हैं। परन्तु इस कारण अथवा किसी भी कारण से मानव व्यक्तित्व के प्रभावहीन या क्षणिक प्रभाव वाले असम्बद्ध और अस्पष्ट खण्ड चित्र प्रस्तुत करना वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

सामान्य अनुभव के अनुकूल न होने से, बहुधा असामान्य होने से इस धारा के बिम्ब अधिकतर जन-कल्पना के लिए दुर्ग्राह्य ही होते हैं—प्रायः किसी एक अनुभूति में आबद्ध न होने से वे कोई समन्वित और स्पष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। इन कवियों के बिम्ब नये और ताजे अवश्य हैं। परन्तु अधिकांश में वे अकाव्यात्मक तथा बौद्धिक हैं।[1] और लोक सामान्य अनुभव तथा जन-जीवन से विच्छिन्न हैं।

—एफ-बी—२२, टैगोर गार्डन, नई दिल्ली

[1] इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का यह कथन पर्याप्त महत्वपूर्ण है—'नवीनता अथवा अपूर्वता को निरपेक्ष रूप में काव्य-बिम्ब का गुण नहीं माना जा सकता....हर नया बिम्ब काव्य-बिम्ब की कोटि में नहीं आ सकता। औचित्य और चारुत्व (रागात्मक शैली) भी काव्य-बिम्ब के लिए आवश्यक है।' (काव्य-बिम्ब—'ये उपमान मैले हो गये हैं' शीर्षक लेख)

ग्राहकों से—अपनी ग्राहक संख्या के पुनर्नवीनीकरण के समय, अपना पता बदलते समय तथा साहित्य संदेश का शुल्क भेजते समय मनीआर्डर कूपन पर अपनी **ग्राहक संख्या** लिखना न भूलें। इससे हम आपकी समस्यायों का हल शीघ्र कर सकेंगे। —प्रबन्ध सम्पादक

जयवर्धन उपन्यास की कथा-संयोजना

● विजय कुलश्रेष्ठ

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रभाव जितना स्वाधीनता के पश्चात् हुआ है उतना सम्भवतः पूरे इतिहास में उपलब्ध नहीं है। विदेशी भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद भी इस परिवर्तन का एक अंग है। यथार्थवादी दृष्टिकोण और यथार्थवादी कला का विकास इन उपन्यासों में हो चला था। देश के परिवर्तित सन्दर्भ में नये विचार, नई मान्यताएँ और नये नैतिक मूल्यों की स्थापनाएँ साहित्य में होने लगीं। नारी-पुरुष सम्बन्ध, नारी शिक्षा, नारी-स्वातंत्र्य, विधवा-विवाह, छूआछूत, जाति बन्धनों से मुक्ति, स्वाधीनता के लिए संघर्ष, मजदूरों-किसानों में जागरण, आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियाँ आदि ही तत्कालीन उपन्यासों का वर्ण्य विषय हो गया था। राजनैतिक स्थितियाँ भी इन उपन्यासों में यत्र-तत्र अपना स्वर छेड़ रही थीं। यही नहीं, मानव की व्यक्तिगत और समाजगत समस्याएँ—व्यक्ति के सन्दर्भ में सङ्घर्ष आदि का चित्रण—इन उपन्यासों की कथावस्तु थे तथा लेखक इन सभी स्थितियों पर अपने दृष्टिकोण से सृजन करता था। इसीलिए इस युग के उपन्यासों में व्यक्ति के निजत्व, उसके अन्तर्द्वन्द्व का मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। व्यक्तिवादी और व्यक्तिवैचित्र्यवादी स्तर पर मानव के व्यक्ति का मनोविश्लेषणात्मक और शिल्प की वैशिष्ट्यवादी शैली के माध्यम से व्यक्ति को उपस्थित करने वाले उपन्यासकार श्री जैनेन्द्रकुमार हैं। इनके उपन्यासों में 'प्रेम' मूलाधार है और प्रेम के केन्द्र के चारों ओर व्यक्ति अथवा पात्र अपने-अपने 'निजत्व' का निर्माण कर लेते हैं और अन्य पुरुष संसर्ग की सङ्घर्षात्मक स्थितियों को भोगते रहते हैं। प्रेम-त्रिकोण का केन्द्र बिन्दु इनके उपन्यासों में पत्नी है और पार्श्व बिन्दुओं में एक ओर पति है दूसरी ओर प्रेमी। नारी इन उपन्यासों की प्रमुख पात्र उभारती है। उसके अन्तर्द्वन्द्व, पीड़ा, वेदना का घनीभूत चित्रण जैनेन्द्रजी की शिल्पगत विशिष्ट शैली से उद्‌भूत होती है। 'जयवर्धन' उपन्यास में यह किंचित परिवर्तित स्वरूप में आया है। है नारी ही वहाँ पर भी, लेकिन नारी से भी अधिक पुरुष का केन्द्र विद्यमान है। नारी उसके निमित्त है जो क्षय होती रहती है उस एक के प्रति जो केन्द्र में है। दूसरे, उसके उर्ध्वपार्श्व में है इला जो उसकी आजीवन समर्पिता है तथा दूसरी ओर है लिजा—जो उसे पा लेने के लिए सतत् यत्नशील है।
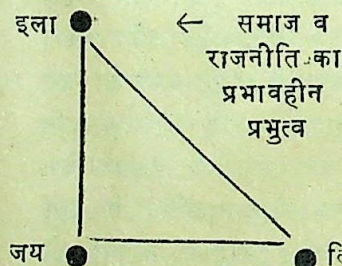
यह उपन्यास जैनेन्द्र के 'प्लेटोनिक' प्रेम के उपन्यास का उद्धरण है। वस्तुतः इस उपन्यास की कथा संयोजना पिछले उपन्यासों से कुछ भिन्न है तथा डायरी शैली में लिखा गया है। इससे पहले भी जैनेन्द्रजी ने 'किसी की डायरी' प्रकाशित की है। लेकिन उस डायरी के कुछ अंश ही दिये गये हैं जो उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित कराये गये हैं। 'जयवर्धन' में भी डायरी, डायरी लेखक की मृत्यु के पश्चात् ही प्रकाशित होती है परन्तु यह एक भारतीय की डायरी नहीं है और

यही विशिष्टता उसमें उभर कर उसे पिछले उपन्यासों से भिन्न रखती है। इस उपन्यास की कथा आगामी (५० वर्षों के) युद्ध के समाज और शासन व्यवस्था के संघर्ष की परिकल्पना है। यह परिकल्पना वर्तमान को कहाँ तक छोड़ सकी है—यह एक दूसरा प्रश्न है। जिस पर विचार करना यहाँ अनावश्यक है। फिर इस उपन्यास को राजनैतिक तत्व चिन्तन का उपन्यास कहा जा सकता है। लेकिन सीमाओं की असफलता की दुहाई के साथ इसमें कथा का केन्द्र बिन्दु है—जयवर्धन। जो भारत का अधिपति है और उसके यत्र-तत्र घूमते हैं अन्य पात्र—आचार्य—जो गांधीवाद के प्रतीक हैं, स्वामी–जो भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक सङ्घ की हिन्दूवादी नीति के पोषक हैं, नाथ और लिजा—वामपक्षी साम्यवादी विचारधारा के प्रतीक। इन्हें आगे अवसरापेक्षित दल-नायक कहा जा सकता है।

लेखक ने कथा संयोजन जयवर्धन के वैयक्तिक पक्ष को अधिक से अधिक तीव्र करने के लिए किया है और इसलिए उसके चरित्र को आकलित करने के लिए उन्होंने एक अमेरिकन पत्रकार को जो स्वयं आध्यात्मिक धरातल से प्रसूत पत्रकार है—सारी कथा कहने के माध्यम के रूप में पा लिया है। उस पत्रकार की एक विशिष्टता है—कि स्थान-स्थान पर अपनी विचारणा (जैनेन्द्रीय) व्यक्त करता जाता है। वैसे गांधीजी का विचार डायरी के सम्बन्ध में यही था कि डायरी में सत्य और तथ्य का ही अङ्कन किया जाना चाहिए। डायरी लिखते समय किसी भावुकता में न पड़ना चाहिए और न किसी बिन्दु विशेष पर अपना अभिमत स्थापित करना चाहिए अपितु यहाँ पर तो यथा, तथ्य विवरण जो कि डायरी की विशेषता है, उपन्यास में समाप्त हो जाती है। विल्वट थोल्डन हूस्टन ने जयवर्धन के सम्बन्ध में डायरी लिखते समय अपनी लेखनी और विचारणा को प्रधान स्थान दिया है और अपने अभिमत के साथ कई घटनाएँ प्रस्तुत कर दी हैं।

जय का वैयक्तिक पक्ष इस उपन्यास में इला को लेकर उभरा है। इला उसकी पत्नी नहीं है, सहगामी है। अनेक वर्षों से उसके साथ है, पर विवाहिता नहीं है और सारे उपन्यास में विवाह न होने की व्यक्तिवादी भावना भी उसमें कहीं स्पष्ट नहीं उभरी है। यदि कहीं विवाह और प्रेम की अस्पष्ट झलक मिलती भी है तो वह निराशात्मक कड़ी है जीवन की।

पात्र संयोजन—पात्रों में जय, इला, स्वामी, आचार्य के अतिरिक्त नाथ-लिजा (नाथ दम्पति) हैं और एक पात्र उपन्यास के प्रारम्भ में पत्रकार हूस्टन से मिलता है—इन्द्रमोहन जो फिर उपन्यास के अन्त में ही प्रकट होता है। वह एक आतंकवादी दल का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु यह दल कभी भी अपनी यतिविधियों से उपन्यास में कहीं भी सामने नहीं आता। लगता है ऐसा दल है भी नहीं। आतंक उत्पन्न करने के लिए इन्द्रमोहन एक परिकल्पनात्मक दल का प्रतिनिधि बनता है। प्रथमत: वह जय के विरोधी और बाद में जय के शुभेच्छु के रूप में प्रकट होता है। इसलिए यह पात्र गौण है।

जय और इला उपन्यास में प्रमुख पात्र के रूप में चित्रित हैं। इला से सम्बन्धित हैं आचार्य जो कि उसके पिता हैं और स्वतन्त्र गणराज्य के अधिपति की किसी आशंका के व्याज से प्रारम्भ से जेल में हैं। इला के दूसरे पार्श्व में आते हैं स्वामी विवेकानन्द। इस प्रकार की पात्र संयोजना से जैनेन्द्रजी ने जहाँ एक ओर जय के व्यक्तिगत और राजगत चारित्रिक पक्ष को उजागर किया है वहीं दूसरी ओर जय के व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी की है। मानवीय दुर्बलता यहाँ स्पष्ट होती है—फ्रायड शायद अपनी तर्जनी उठाकर जैनेन्द्र से जय के चरित्र को उत्कीर्ण करा रहा है। तभी जय का नार्मल जीवन उसमें न आकर असाधारण ही चित्रित है।
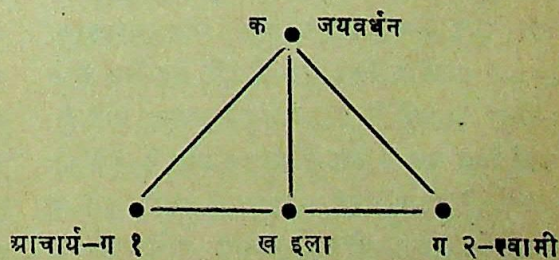
यदि हम जय इला और स्वामी तथा आचार्य की स्थल-संयोजना देखें तो स्पष्ट होगा कि 'ख' पर स्थिति इला एक पार्श्व में अपने पिता आचार्य द्वारा जय के साथ विवाह की स्वीकृत न मिलने के कारण पारिवारिक शृङ्खला में आबद्ध है (ग–१) दूसरे पार्श्व में स्वामी चिदानन्द द्वारा उत्पन्न भर्त्सना की शिकार है—जहाँ उसको सामाजिक शृङ्खला में असम्मानित तक होना पड़ा है। (ग–२) लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी वह जय को वरेण्य मान चुकी है। जय के बिना उसकी गति नहीं। जय उसे बड़ा निरीह और वत्सल दिखता है। वह जानती है कि यदि उसे छोड़कर हटेगी तो जय अपस्थिति में होगा (क) इसलिए वह अपना सर्वस्व समर्पित करते हुए प्लेटोनिक प्रेम के आश्रय पर जीवित है।

घटना-संयोजन—जय राष्ट्राधिपति है। वह अनेक दल विरोधों के मध्य सिंहासनारूढ़ है। वह किस दल का प्रतिनिधित्व करता है यह कहीं भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। संकेत अवश्य दिया गया है। उसका दल कभी उसके पक्ष में प्रबल होकर आगे नहीं आया है। जय का विरोध करने वाला दल प्रतिनिधि स्वामी चिदानन्द है। जिनका विरोध मात्र इसलिये है कि जय ने इला के साथ विधिवत विवाह नहीं किया है और इस प्रकार एक स्त्री को साथ रखकर जो शासनारूढ़ बना रहेगा तो उस देश के चरित्र का पतन हो जायगा। इसलिए वे चाहते हैं कि जय स्वयं अधिपति पद से हट जायँ। दूसरा दल नाथ दम्पत्ति का है जो प्रारम्भ में जय के विरोधी दलों में से है। (अन्य कितने दल विरोध में थे इनकी ओर कोई संकेत नहीं है) लेकिन परिस्थितियों के बदलने से वे जय के सहयोगी बनकर उससे विचार विनिमय करते हैं और राज्य में चल रही अशान्ति और अव्यवस्था को समाप्त करने के लिए एक विज्ञप्ति प्रसारित करते हैं। तीसरे विरोधी के रूप में जय के सम्मुख आते हैं। आचार्य जिसे जज ने जेल में कैदकर रखा है (लेकिन इतना आतंकित व्यक्तित्व उपन्यास में उभरा नहीं है कि उन्हें कैद करना होता) आचार्य गांधीवादी है और जय का विरोध इसलिए करते हैं कि वह उनकी लड़की का योग्य पति नहीं हो सकता तथा उसकी नीतियाँ—उद्योग सम्बन्धादि में स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार जय की त्रिकोणात्मक स्थिति में एक उसका अन्तरंग है जो समाज में हेय दृष्टि से देखा जाने के लिए चिदानन्द द्वारा प्रचारित एवं अभिव्यक्त होता है। दूसरी ओर उसका बहिरंग है—जो उसके राजनैता के रूप में आचार्य का विरोध पाता है। इस बहिरंग और अन्तरंग के मध्य एक और स्थिति है जिसे 'अनुरंग' कह सकते हैं। इसमें एक दल जिसका प्रतिनिधित्व नाथ दम्पत्ति करते हैं—अपने दल गत प्रयोजन की अपेक्षा नाथ पत्नी श्रीमती लिजा है अत्यधिक प्रभावित हो जाता है और श्रीमती लिजा अपने पति से तलाक लेने को तैयार हो उठती है तथा जय के अनुरंग की अधिस्वामिनी होने की वांछा करने लगती हैं।

(नाथ दम्पत्ति)
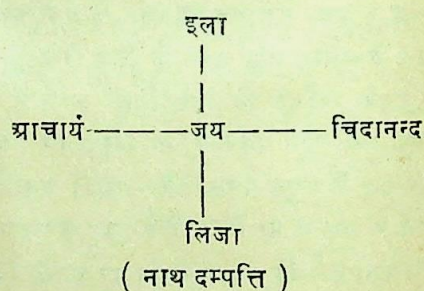
काल संयोजन—जयवर्धन में यदि कुछ है तो वह है फैले समय पर आकलित घटना क्रम का संयोजन जिसे समन्वित नहीं किया जा सकता। और जय का अधिपति कभी एक स्थान पर, एक समय पर और एक विषय पर विचारता ही नहीं। हूस्टन के साथ आध्यात्मिक चर्चा में लीन होकर भी राज्य के विषय में राज्य समूह के चिन्तन की अपेक्षा राज्य से च्युत है—व्यक्ति बनने और राज्य को अनावश्यक समझने का प्रयास करता है। इस प्रकार काल संयोजना भली प्रकार उपन्यास में नहीं बँध पाती है। यही नहीं जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अपनी छडी उठा-उठाकर फ्लैश बैक पद्धति पर घटनाओं को तोड़ता मरोड़ता है और उनके कालक्रम में सर्वथा व्यवधान उपस्थित करता है। इस-

लिए इला अपने २० वर्ष पूर्व के प्रेम सम्बन्धों की चर्चा करती है तो दूसरे स्थल पर जो इससे भी बाद का स्थल है—आकर वह पुनः उससे भी पहले की घटना का वर्णन करने लगती है। जब पहली बार जय को आश्रम में देखा था। इस प्रकार काल संयोजना सफल नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्रजी ने 'फैले समय पर लिखी' और 'कहाँ तक उपन्यास सिद्ध होगा' की आत्म स्वीकृति देकर अपना बचाव प्रस्तुत कर दिया है।

जयवर्द्धन में काल के समान ही स्थल संघटना भी वैविध्यपूर्ण है। कोई भी घटना किसी एक स्थल पर सम्पन्न नहीं है और किसी औपन्यासिक कलेवर में—विशेषकर जैनेन्द्रजी के इस बहुपृष्ठीय उपन्यास में, उनकी शैलीगत विशेषता तथा कथा की विकसित धारा को देखकर—किसी एक स्थल की संयोजना सम्भाव्य भी नहीं है। कारण है कि अनेक घटनाएँ राजमहल से प्रारम्भ होती हैं तो कहीं सभा के मैदान में समाप्त हैं अथवा महल के प्रकोष्ठ में बैठकर आश्रम साध्वी या आन्दोलनकारी जय की आचार्य के घर में अनायाचित उपस्थिति—इस उपन्यास के स्थल संघटना पक्ष का शैथिल्य प्रकट करती है।

इस सम्पूर्ण उपन्यास में पूर्णतः गत्यात्मकता का अभाव है। प्रारम्भ बड़ी ही शिथिल गति से आज से पचास वर्ष बाद की बम्बई और भारत की स्तुति से प्रारम्भ तो होता है पर बम्बई आज की से किंचित भी परिवर्तित नहीं। इस प्रकार जहाँ पर आलोचक इसे यूटोपियन शैली का उपन्यास करने का अथवा भविष्यगामी उपन्यास नाम दने का प्रयास करते हैं पर यह उचित नहीं है क्योंकि भविष्यवादी उपन्यास के चित्रण में काल, समय, घटनाक्रम से जितना सम्बन्ध होगा उतना ही उपन्यास की तीव्रगति से प्रवाहित होना भी। इसका (जयवर्धन का) संक्षिप्त कथानक यह है—जय अधिपति है, इला उसकी सहगामिनी है और चूँकि इला का सहगमन अविवाहित रूप में चिदानन्द नहीं सह पाते हैं और यह सहवास उन्हें देश के चरित्र-पतन का हेतु दीखता है, इसलिये वे जय का विरोध करते हैं और चाहते हैं कि यह राज्यपद छोड़ दे। इला स्वयं सारी स्थितियों से अवगत होते हुए भी जय को छोड़ने में असमर्थ है और पिता की (आचार्य की) इच्छा के विरुद्ध भी जय के साथ है। वह इसलिये जय के साथ है कि वह जय को—एक अकेले जय को पाने में ही सार्थकता मानती है। वह अधिपति जय की प्राप्ति की कामना नहीं करती किन्तु इस ओर उद्योगशील अवश्य है कि जय राज्य पर बना रहे। जय है कि उसके प्रति जनता में फैली हुई अशान्ति और आन्दोलनों के प्रति राज्य की शक्ति का प्रयोग नहीं करता। क्योंकि उसकी मान्यता है कि विरोध मात्र व्यक्तिगत हैं। आचार्यजी जय से विरोध इसलिये करते हैं कि उद्योगीकरण की नीति में मशीनों के उपयोग को वे अनावश्यक मानते हैं और जय के प्रयत्नों को वे प्रमाद मानते हैं। तथापि चाहते हैं कि प्रमाद से निकलकर वह यहाँ आश्रम में आकर चर्खा कातते। तीसरा दल नाथ दम्पत्ति का है जो उपन्यास के मध्य में उभरता है। इससे पूर्व इस दल का कोई उल्लेख नहीं है। यह दल एकदम जय का पक्ष समर्थन करता है जिसका प्रतिनिधित्व केवल नाथ और लिजा करते हैं। इस दल की समस्त बागडोर लिजा (एलिजाबेथ —एक हंगेरियन महिला) के हाथ में है। वह अप्रत्यक्षतः या प्रत्यक्षतः जय का संसर्ग चाहने लगती है इसलिये अपने पति से तलाक लेने को भी उत्सुक हो जाती है और अन्त में निराश भी होती है। जय जब सर्वदल सम्मेलन में अपने त्यागपत्र की बात रखता है तो सर्वदल उसे त्यागपत्र न देकर राज्य-संचालन के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु वह सर्वदलीय सरकार आचार्य की अध्यक्षता में सौंप कर इन्द्रमोहन के साथ जो सर्वप्रथम उपन्यास के प्रारम्भ में जय को अपना दुश्मन बतलाता है और जय जिसे बालसखा बतलाता है—कहीं भाग कर मंच से हट जाता है। अन्त में श्री विल्वट हूस्टन अमरीकी पत्रकार महोदय बम्बई से अपने देश को लौटते हुए सूचना देते हैं कि जय का इला से अन्तिम दिन विवाह हो चुका है।

—६३, अशोकनगर, उदयपुर।

काव्य की तुला पर भाव जगत और प्रेम

● डा० रामकुमार खण्डेलवाल

भाव-जगत—मानव का अपने भीतर के भावना-जगत से सम्बन्ध उतना ही घना है जितना इस बाहर के विश्व से। एक संसार मानव के चारों ओर है और एक उसके भीतर—उसकी आत्मा के चारों ओर। इस बाह्य और अन्तर्जगत का सम्बन्ध भी अन्योन्याश्रित है। अपनी चेतना शक्तियों द्वारा मनुष्य निरन्तर अनुभव करता है और उसका भाव-जगत उन सारे अनुभवों को आत्मसात् कर अपने में एक और जगत की सृष्टि कर लेता है। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों की समाप्ति हमारे लिए वहीं नहीं हो जाती वरन् भावों की चेतना का योग उन्हें मार्जित, परिवर्तित, परिवर्धित करता है। जैसे विभिन्न तत्वों (Elements) से बना कोई रसायन (Chemical compound) केवल उन तत्वों का योग वरन् एक स्वतन्त्र पदार्थ होता है, उसी प्रकार मानवीय चेतना द्वारा ग्रहण किये अनुभव भावों का रूपाकार ग्रहण करने पर अपना एक निज का अस्तित्व बना लेते हैं। वैसे तो मनुष्य की मूल वृत्तियाँ भी आहार, निद्रामय आदि ही हैं पर पशु-जगत के प्राणियों की भाँति ये मूल वृत्तियाँ मानव में अपनी अथ व इति आप में नहीं होतीं। उदर-पोषण, सन्तानोत्पत्ति, विश्राम और आपत्तियों से स्वयं की रक्षा संसार में प्राणिमात्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। पशु इन वृत्तियों के मूल रूप से विशेष नहीं बढ़ पाते। कारण उनमें प्राय: भाव अथवा भावना की उन शक्तियों का अभाव है जो विधि ने केवल मानव को ही इतनी मात्रा में दी हैं कि वे अपनी अनन्तता का ही स्पर्श कर सकती हैं।

प्रणय और वात्सल्य की भी आवश्यक भावनायें कुछ पशुओं में पर्याप्त विकसित रूप में होती हैं पर उन भावनाओं का क्रमिक विकास और उनकी धुरी पर जीवन की गतिविधि का नियन्त्रण मानव के लिए ही सम्भव है। कारण है मानव का अतुल अपार असीम भाव वैभव। इसी वैभव के बल पर आँखें जो देख नहीं पातीं, कान जो सुन नहीं पाते, स्पर्श जो छू नहीं पाता मानव उसका भी अनुभव कर लेता है। गुलाब मनोरम होता है किन्तु प्रिया का सौन्दर्य गुलाब के रंग और गन्ध ये भी सुन्दरतम होते हैं। यह भावना से ही समझा जा सकता है। वीणा के तारों से झंकृत रागिनी की मिठास श्रवण-चेतना को तृप्त करती है पर विश्व के कण-कण से निसृत आलौकिक स्वर प्राणों को कैसे झंकृत करते हैं—यह भावना से ही अनुभव किया जा सकता है। वस्तुत: भाव मानव की वह अन्तश्चेतना है जो उसके समस्त पार्थिव एवं अपार्थिव अस्तित्व की प्रणेता एवं समन्वयकारिणी है। विश्व के इतिहास में मानव का विकास उसके भावों का ही वह विकास है जो उसे क्रमिक रूप से पूर्णतर एवं सुन्दरतर बनाये जा रहा है। भावभूमि पर मानव की चेतना जितनी परिष्कृत एवं श्रेष्ठ होती जाएगी, संस्कृति और सभ्यता के इतिहास में उसकी गाथा उतनी ही उज्ज्वलतर। मानव अस्तित्व में भावनाओं का आलोक उसी भाँति निहित है जैसे दीपक में प्रकाश। भाव तन की सामर्थ्य है। मन का संबल और आत्मा की शक्ति। वास्तव में भावों के शृङ्गार के बिना मानव भी दो पैर का पशु ही होता।

हमारे नित्यप्रति के साधारण जीवन के कार्य-कलापों के पीछे भी भावनाओं की अन्तश्चेतना निर-

न्तर गतिमान होती है। भावनाहीन व्यक्ति कदाचित् मानव की संज्ञा का अधिकारी नहीं। धड़कन के बिना मानव हृदय निस्पन्द है, मृत है और भावना की धड़कनों के अभाव में मानव का अस्तित्व निष्प्राण।

जब हमारे साधारण जीवन पर भावनाओं का इतना अधिकार है तो साहित्य और कला के विशेष क्षेत्र में इसका प्रभाव सघनतर होना अनिवार्य ही है। कोई भी कला हृदय और मस्तिष्क का वह संयोग होती है जो भावनाओं द्वारा सज-सँवर कर प्रस्तुत हो पाती है। मस्तिष्क विचार करता है हृदय अनुभूति। विचार और अनुभूति भाव एवं भावनाओं को जन्म देते हैं और इन्हीं भावनाओं के फलक पर फिर काव्य, संगीत, चित्रकला आदि कला के विभिन्न चित्र उभरते हैं। कला की श्रेष्ठता, उदात्तता तथा विशालता उसके सर्जक के भावना-जगत का ही प्रतिबिम्ब होती है। यही कारण है कि कवि जितना अधिक संवेदनशील होता है उसकी रचनाएँ उतनी ही मर्मस्पर्शी हो पाती हैं। कला की श्रेष्ठता एवं मर्मस्पर्शिता का आधार प्रधानतः कलाकार की भावनाएँ ही होती हैं।

हृदय और मस्तिष्क का उचित समन्वय मानव की विशेषता है और उस समन्वय का निखरा-सँवरा रूप कलाकार की। भावनाओं का अधिकाधिक बल देकर इस समन्वय को पूर्णतम् एवं सुन्दरम् बना देना काव्य का लक्ष्य होता है। भावों से जागृत काव्य फिर पाठक या श्रोता में भावों के शत-शत शतदल खिलाता चलता है।

भाव का वैज्ञानिक निरूपण—साधारण और प्राथमिक अवस्था में शरीर के ही सुख-दुख की इन्द्रियजनित अनुभूति मानव को होती है। आदि मानव की प्रथम अनुभूतियाँ उदर-पोषण, गर्मी-सर्दी से रक्षा आदि नितान्त शारीरिक सुविधाओं पर निर्भर रही होगी। प्रत्येक मानव शिशु इन अनुभूतियों का उदाहरण होता है। पेट भरने पर चुप रहना और भूख लगने पर रो उठना जितना शिशु के लिए स्वाभाविक है उतना उस बात का प्रमाण भी कि सुख और दुख की अनुभूति उसे होती है यद्यपि नितान्त शारीरिक सुविधा असुविधा होने पर। इसके बाद वह प्रत्येक साधारण ध्वनि की ओर आकर्षित होता है, प्रत्येक वस्तु को देखता है। यह देखना सुनना पहले कौतूहलजनित और इन्द्रियों के सहज स्वभावगत होता है। इसके बाद वह स्थिति आती है जब वह चमकीली रंगबिरंगी वस्तुओं को देखकर किलकता है, प्रसन्न होता है और कुछ विशेष ध्वनियों को सुनकर आनन्दित होता है। इस प्रकार उसे चमकीली रंगबिरंगी वस्तु से प्राप्त दृष्टि सुख की अनुभूति होती है और विशेष ध्वनि से श्रवण सुख की अनुभूति होती है। धीरे-धीरे सुखद वस्तुओं को निकट रखना तथा अप्रिय एवं दुखद वस्तुओं को दूर करना वह स्वभावतः सीख जाता है। यही राग और द्वेष का मूल है।

विद्वानों के अनुसार ये इन्द्रियजनित सुख और दुख पर आधारित राग और द्वेष ही आगे चल कर प्रेम, क्रोध आदि विभिन्न प्रवृत्तियों एवं वासनाओं का रूप धारण करते हैं।

आरम्भ में प्रेम, क्रोध आदि प्रवृत्तियाँ एवं वासनाएँ अपने नितान्त सामान्य रूप में रहती हैं। धीरे-धीरे वे विशेष वस्तुओं एवं विषयों की ओर विशेष प्रकार से उन्मुक्त होने पर यही प्रेम, क्रोध आदि प्रवृत्तियाँ प्रेम और क्रोध आदि भावों या मनोविकारों का रूप धारण कर लेती हैं।[1]

[1] नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संचरित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुख की मूल अनुभूति के ही विषय भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती हैं। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुख होगा पर यदि साथ ही वह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक व शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। —आ. रामचन्द्र शुक्लः भाव या मनोविकार, चिन्तामणि पृ. २

वासना एवं प्रवृत्ति तथा भाव अथवा मनोविकार में सामान्य और विशेष अन्तर है। प्रवृत्ति में लक्ष्य अथवा आलम्बन निर्दिष्ट नहीं होते। भाव का लक्ष्य स्पष्ट होता है क्रिया एवं प्रतिक्रिया सहित। उदाहरणार्थ भय की प्रवृत्ति के कारण बहुत से जीव जन्तु किसी खटके मात्र से भाग खड़े होते हैं किन्तु मनुष्य प्रत्येक खटके से नहीं, खटके विशेष से डरेगा। पशुओं में भय की प्रवृत्ति, प्रायः प्रवृत्ति की सामान्य दशा में ही मिलेगी, भाव अथवा मनोविकार की विशेष दशा में नहीं।[1] मानव में भी प्रवृत्ति से मनोविकार की स्थिति उसकी सामान्य से विशेष दशाओं की ओर प्रगति करने की होती है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार भाव का विश्लेषण करने पर उसके तीन अंग माने जा सकते हैं—

१—प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में,

२—विषय बिम्ब के रूप में चेतना में (भाव आलंबन आदि की भावना)

३—आकृति या आचरण से अभिव्यक्त होकर बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव)

समय और सभ्यता के साथ मानव के विकास के कारण जैसे उसके व्यापार अनेकरूपी और जटिल होते गये वैसे ही भाव के मूल रूप भी अपने स्वाभाविक रूपों में न रहकर आच्छन्न होते गये। उदाहरणार्थ आदि मानव के भय का लक्ष्य स्वयं तथा सन्तति की रक्षा तक ही था। जैसे-जैसे उसका संसार, अधिकार व व्यापार बढ़ा, पशु और भूमि की रक्षा उसे आवश्यक हो गयी और फिर धन मान अधिकार प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की चिन्ता होने लगी और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। घृणा, लोभ, क्रोध आदि अन्य भावों के विषय भी धीरे-धीरे अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण कर चले। कुछ भावों के विषय अमूर्त तक होने लगे जैसे यश की लालसा बौद्ध दर्शन में ऐसे भावों को अरूप राग की संज्ञा दी गई है।

आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में और भी कहा है कि भावों के विषयों एवं प्रेरित व्यापारों में प्रत्यक्ष होने वाली यह अनेकरूपता आने पर भी उनका सम्बन्ध भावों के मूल रूपों एवं मूल विषयों से परोक्ष रूप में निरन्तर बना रहता है। आज की कचहरी में दो व्यक्तियों की सम्पत्ति के लिये लड़ाई और दो कुत्तों की रोटी के लिए छीना-झपटी में वस्तुतः कोई भेद नहीं है क्योंकि प्रथम में भी अन्ततः सम्पत्ति के पीछे रोटी और सुख की ही भावना है।

परन्तु यह प्रच्छन्न रूप उतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इस प्रच्छन्न का उद्घाटन काव्य का मुख्य कार्य है। सभ्यता की वृद्धि के साथ यह कार्य भी अधिकाधिक बढ़ता जाएगा। मनुष्य की मूल रागात्मिका वृत्ति से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसके बहुत से रूपों को हटाना पड़ेगा। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे।

काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चल पाता बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।[1]

अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ही के ही शब्दों में—'भाव उस विशेष रूप के चित्त विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों। संक्षेप में—"प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।"[2]

---

[1] सुख और दुख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदि प्राणियों में प्रकट हुए जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चल कर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे पीछे भाव रूप में आये।

—आ. रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० १६१

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा।

भावों का वर्गीकरण—भावों के वर्गीकरण एवं नामकरण का प्रयत्न आरम्भ से होता रहा है पर अभी तक कोई सर्वमान्य विभाजन नहीं हो पाया है। मनोवैज्ञानिकों ने भी विभिन्न प्रकार से प्रयत्न किया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रधान भाव है क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा, आश्चर्य और जिज्ञासा। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने केवल दो भेद किये हैं—मूल भाव और तद्भव भाव। अपने आप में स्वतन्त्र भावों को मूल भाव माना गया है अर्थात् ऐसे भाव जिनकी अनुभूति अन्य किसी भाव पर आधारित न हो, जैसे—क्रोध, भय, आश्चर्य, शोक आदि। तद्भव भाव वे हैं जो किसी अन्य भाव पर आश्रित हों यानी जिनकी अनुभूति करने के लिए अन्य किसी भाव की पूर्वानुभूति आवश्यक हो, यथा—कृतज्ञता, दया, पश्चात्ताप आदि। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने भावों को केवल दो वर्ग—सुखात्मक तथा दुःखात्मक में विभाजित किया है। आचार्य बलदेवप्रसाद मिश्र ने तीन वर्ग माने हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक एवं वैराज्ञात्मक।[१] फ्रायड ने मूल प्रवृत्तियों को केवल जीव प्रवृत्ति तथा मृत्यु प्रवृत्ति मानकर भावों को इन्हीं दो प्रवृत्तियों पर आधारित माना है।

शैण्ड महोदय ने भावों की सुन्दर मीमाँसा की है। उन्होंने माना है कि मानव हृदय में भिन्न भाव-कोश हैं जिनसे विशिष्ट भाव प्रवृत्तियाँ तथा वेग परिस्थिति आदि के कारण उद्भूत होते हैं। भावकोष भावों का समूह नहीं होता वरन् एक भाव प्रणाली होता है जिससे विशिष्ट भावादि ही उत्पन्न हो सकते हैं। यथा प्रीति एक भाव-कोष है जिससे अनेक भाव परिस्थिति आदि के कारण प्रकट होते हैं। जैसे प्रिय पात्र के मिलने पर हर्ष, विरह से दुःख, प्रिय के प्रवास में होने पर शंका, प्रिय के शत्रु को देखकर क्रोध। इन भावों के अतिरिक्त रति मात्र की कोई सत्ता व स्वरूप नहीं है जब प्रेम प्रकट होगा तो वह इस प्रकार के किसी भाव का रूप लेकर प्रकट होगा। वहाँ यही रति विभिन्न आलम्बनों के कारण विभिन्न रूप धारण कर लेती है जैसे दाम्पत्य रति, वात्सल्य रति, मैत्री, देश प्रेम, यश प्रेम आदि।

ये भाव कोष स्थायी होते हैं अतः इन पर आधारित संकल्प धीर और संयत होते हैं जबकि अन्य भावों के संकल्प वेग युक्त होते हैं। जैसे प्रेम-पात्र के दर्शन पर हर्ष, कदाचित् उसे चूमने की बाहों में भरने की प्रबल प्रेरणा होगी पर किसी से प्रीति होने पर उसे प्राप्त करने का उससे मिलने का यत्न सोच विचार कर किया जाएगा।

प्रेम-भाव—प्राचीन अधिकांश आचार्यों के अनुसार रस काव्य का प्राण है और रसों की सूची में 'एको रसः श्रृंगारः' का महत्व बहुत से आचार्यों ने स्वीकार किया है। श्रृंगार रस के महत्व पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है और इस कथन की सत्यता प्रमाणित है। भाव ही रस के मूलाधार होते हैं। अतः 'एको रसः श्रृंगारः' के साथ यदि 'एको भावः रतिः' भी कहा जाए तो अनुचित न होगा। वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं, संसार के सामान्य व्यापारों के धरातल पर भी प्रेम का प्रभाव एवं महत्व तनिक भी विचार करने पर स्पष्ट हो जाएगा।

मानव भावना जगत का प्राणी है। इन भावनाओं में प्रमुखता मानव की उस रागात्मक वृत्ति की ही सर्वाधिक है जिसके कारण ही मनुष्य का व्यक्तियों, वस्तुओं एवं स्वयं से भी सम्बन्ध सम्भव है। संसार के समस्त व्यक्तिगत, सामाजिक एवं सांस्कृतिक बन्धन इसी प्रवृत्ति के कारण सम्भव हो पाते हैं। शिशु अनजाने में पहले आप को, फिर माता-पिता एवं परिवार को, अपने चारों ओर के वातावरण को वस्तुओं को प्यार करने लगता है। जिसे वह नहीं चाहता उससे घृणा करता है या उस पर क्रोध करता है। ये घृणा एवं क्रोध भी उसी राग की प्रतिक्रिया है जो उस वस्तु या व्यक्ति विशेष से होता और अन्य से नहीं। एक ओर का विराग दूसरी ओर से परम राग की केवल प्रतिक्रिया ही होती है। सुन्दरी पत्नी और नवजात बालक का मोह छोड़ चल पड़ने वाले गौतम वास्तव में वैरागी नहीं परम रागी हो

[१] जीव विज्ञान : डा० बलदेवप्रसाद मिश्र।

उठे थे। उनके हृदय में छलकता प्रेम का सागर केवल परिवार के घेरे में न समा सका और प्राणिमात्र के लिए स्नेह एवं करुणा की अजस्र रसधार बन शत-शत धारा से बह निकला। गौतम का यह निर्वेद भाव स्थूल दृष्टि से विराग किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से परमराग का उदाहरण कहा जा सकता है।

मानव क्रोध न करे, हर्ष में मग्न न हो एवं घृणा से संकुचित न हो उठे, यह सब विशेष दशाओं में सम्भव हो सकता है। किन्तु मानव प्रेम न करे, सांस लेते रहने पर भी प्रेम की धड़कनों से अपरिचित हो यह कदापि सम्भव नहीं। वैरागी कहे जाने वाले व्यक्ति भी किसी न किसी दृष्टि से राजी होते हैं। साधारण प्राणी अपने आप से, अपने परिवार से प्यार करता है, वैज्ञानिक अपनी शोध पर न्योछावर होता है, कलाकार अपनी कला का पुजारी होता है। प्रेम शून्य मानव का अस्तित्व सम्भव नहीं और यह शून्यता की स्थिति आ भी जाए तो व्यक्ति विशेष निस्सन्देह आत्महत्या कर लेगा।

प्रेम का हर्ष, उत्साह, शोक, आदि भावों से जो सम्बन्ध है और उस पर जो अधिकार है वह तो स्पष्ट है ही। विरोधी प्रतीत होने वाले भावों में भी मूल रूप में राग समाया हुआ रहता है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्थायी भाव आठ माने गये हैं—क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा, आश्चर्य, रति या प्रेम भाव में अन्य सभी भाव समाहित हो जाते हैं।

प्रेमास्पद व्यक्ति या वस्तु की निकटता हर्ष और उत्साह की सृष्टि करती है और बिछोह शोक की। प्रेमास्पद आश्चर्य का कारण भी होता है। हर्ष, उत्साह और आश्चर्य भाव तो रति के सहयोग भाव कहे जा सकते हैं और शोक रति की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न। क्रोध, भय, घृणा स्थूल दृष्टि से रति के नितान्त विरोधी भाव प्रतीत होते हैं किन्तु प्राय: क्रोध का कारण, भय और घृणा का मूल भी राग की वह स्थिति होती है जो कुण्ठित होने पर गति बदल लेती है। क ख को प्रेम करता है। क को प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर 'ख' पर क्रोध आ जाता है और ख से घृणा हो सकती है अथवा ख से प्रतिदान न प्राप्त करने का भय हो सकता है। इसके अतिरिक्त क और ख के मिलन में बाधक के प्रति क्रोध और घृणा तथा भय होना भी स्वाभाविक है।

यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है। घृणा, क्रोध आदि में प्रेम हो ही यह आवश्यक नहीं है। कोई हमें तंग करता है तो हम क्रोधित हो उठते हैं उससे घृणा करने लगते हैं। इसी भाँति सर्प को देखकर भयभीत हो उठते हैं। अत: यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक क्रोध भय या घृणा की पृष्ठभूमि में प्रेम हो और न यह सम्भव है कि क्रोध भय आदि से प्रेम उत्पन्न हो किन्तु रति भाव अपने विस्तृत एवं सम्पूर्ण रूप में अन्य सभी भावों को एवं उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया को समाहित कर सकता है, यह स्पष्ट है।

—रीडर, हिन्दी विभाग, उस्मानिया वि० वि०
हैदराबाद–७

प्रसाद के आनन्दवाद की भूमिका

● कामता गुप्त 'कमलेश'

भारतीय दर्शन सामान्यत: दो सरणियों में विभक्त है—आत्मवाद और अनात्मवाद या नैरात्मवाद। आत्मवाद के अन्तर्गत समस्त हिन्दू दर्शन हैं और अनात्मवाद में बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन आते हैं। जैन-दर्शन दोनों का समुच्चय करता है। आत्मवाद के अनुसार आत्मा नित्य, अजर-अमर, सभी वस्तुओं की साक्षी, चेतन और अपरिवर्तनशील है। अनात्मवाद के अनुसार या तो आत्मा है ही नहीं और या वह नश्वर तथा परिवर्तनशील है। जैन मत में वह परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों हैं जो स्वत: विप्रतिषेधक होने के कारण ठीक नहीं है।

आत्मा की व्याख्या में अब तक सभी दर्शनों में पर्याप्त खण्डन-मण्डन हुआ है। यास्क ने आत्मा शब्द की निरुक्ति यों की है—आत्मा शब्द अत् धातु (सतत चलना) या अप् धातु (व्याप्त होना) से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिये कहा जाता है कि यह सदा चलती रहती है या सदा समस्त वस्तुओं में व्याप्त रहती है।[1] शंकराचार्य आत्मा की व्युत्पत्ति करते समय एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुए कहते हैं—"क्योंकि यह सबको व्याप्त करती है (आप्नोति), ग्रहण करती है (आदत्ते), इस लोक में विषयों को भोगती है (अत्ति) और इसका सदैव सद्भाव रहता है (अतति), इसीलिए इसे आत्मा कहा जाता है।"[2] इस व्युत्पत्ति के पूर्व शंकराचार्य कहते हैं—

[1] 'आत्मा ततेे वप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति।'—निरुक्ति ३ : १३ : २।

[2] 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥'
—लिंग पुराण १।७०।९६।

"कि आत्मा शब्द इस लोक में प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयों को जानने वाला) के अर्थ में रूढ़ है और किसी अन्य अर्थ में नहीं।"[1] इसलिए वे इसे प्राय: 'प्रत्यगात्मा' कहते हैं। कभी-कभी प्रत्यगात्मा की व्याख्या वे करते हैं कि यह प्रत्यक् अर्थात् सम्पूर्ण विषयों को जानने वाला और आत्मा दोनों है। यहाँ आत्मा का अर्थ उस वस्तु से है जिसका सातत्व भाव हो और जो सदैव एकता युक्त हो। एतरेयोपनिषद् में आत्मा को मूल तत्व या जगत् का आदि कारण ही कह दिया गया है। और आत्मा से ही सृष्टि को उत्पन्न सिद्ध किया गया है क्योंकि जगत् के आदि कारण का अपर पर्याय ब्रह्म है, अत: आत्मा को ही ब्रह्म समझा गया। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा ब्रह्म है इसका स्पष्ट उल्लेख है। 'तत्त्वमसि' (वह तू है) छान्दोग्यपनिषद् में माना गया है। अब तक जैसा शंकराचार्य कहते हैं, आत्मा प्रत्यगात्मा के अर्थ में और ब्रह्म जगत् के मूल कारण के अर्थ में रूढ़ हो चले। 'सोऽहमस्मि' अनुभव में आत्मा तथा अभेद का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ।

भारतीय कवियों ने बुद्धिवाद की अपेक्षा काव्य में इसी आत्मवाद को अधिक मान्यता दी है। ब्राह्मण अरण्य, पुराण एवं अन्य ललित साहित्य में आत्मवाद को अधिकता सर्वत्र हुई है। काव्य में रस को जो प्रमुखता दी गई है वह इसी आत्मवाद की पुष्टि करता है। रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है और यह आनन्द ही काव्य का प्रमुख लक्षण बना है।

आनन्द परब्रह्म का ही वाचक है—रसो वै स:।

[1] कठोपनिषद् भाष्य, २ : १।

रसह्येवायं लब्धानन्दी भवति । एषह्येवानन्दयति ।[१] वह रस ही है । इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है । यह रस सबको आनन्दित कर देता है । इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय से ही सब प्राणी जीवित रहते हैं ।[२] स्वयं तैत्तिरीय उपनिषद् में ही जगत के समस्त पदार्थों का कारण, आधार और लय आनन्द दिखलाया गया है ।

आनन्द अभयत्व है । जब तक द्वैत रहता है तब तक भय बना रहता है । अद्वैत की अनुभूति में अभय की प्राप्ति होती है । आनन्द आत्मा का ही लक्षण है तथा नित्य है । साथ ही इसका स्वभाव भी है । आत्मज्ञान न रहने से आनन्द का भी ज्ञान नहीं होता । आनन्द-लाभ का वही साधन है जो आत्मलाभ का है । ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग, प्रपत्ति मार्ग, पुष्टि मार्ग और योग मार्ग इसको प्राप्त करने के साधन हैं । आनन्द की उपलब्धि ही मोक्ष है ।

भारत में आनन्दवाद का इतिहास—भारत में आनन्दवाद की धारा कभी तीव्र कभी मन्द गति से प्रवाहित होती आ रही है । एतदर्थ आनन्दवाद बाह्य वस्तु नहीं और न आयातित ज्ञान ही । प्रसाद का आनन्दवाद श्रद्धामूलक है जिस पर वर्तमान का प्रभाव परिलक्षित होता है । आज मानव बुद्धि द्वारा प्रताड़ित हो किस प्रकार आनन्द की खोज में भटकता फिर रहा है, यह सर्वविदित है । बुद्धि द्वारा आज पर्याप्त भौतिक साधन, विलास वस्तु निर्मित कर ली गई हैं । फिर भी उसकी आत्मा में अशान्ति बनी हुई है ।

बुद्धिवाद का यह विरोध भारत में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है । हिन्दू-संस्कृति सदैव श्रद्धा (हृदय) को प्रधान तथा बुद्धि को गौण स्थान देती आई है । निगम, आगम, गीता, पुराण सभी इसके प्रबल समर्थक हैं ।

प्रसाद के आनन्दवाद का आधार—प्रसादजी प्रमुख रूप से आनन्दवादी कवि थे । कामायनी में उनके आनन्दवाद की आधार-शिला निम्न पर अवलम्बित है—

क—शैवागमों का प्रत्यभिज्ञा दर्शन ।

ख—इन्द्र (आर्यों के प्रथम सम्राट) के आनन्दवाद से प्रेरणा ।

ग—यत्र-तत्र बौद्ध धर्म की आनन्दवादी प्रशाखा का प्रभाव ।

शैवागमों के अनुसार आत्मा में 'माहेश्वरी शक्ति' की प्रस्थिति है । आत्मा जब नाम रूप धारिणी हो जाती है अर्थात् जगत् में व्यक्त रूप धारण करती है और भेद-बुद्धि अपनाती है तब उसमें माहेश्वरी शक्ति सुषुप्ति अवस्था में रहती है पर आत्मा जब इस भेद-बुद्धि को त्यागकर अभेद्य की ओर अग्रसर होती है तब आत्मा का शिव से साक्षात्कार होता है । फलत: अज्ञान आवरण के हटने से आत्मा आनन्दघन शिवत्व में लीन हो जाती है । प्रसाद ने इसी तथ्य की ओर इङ्गित किया है ।

'सब में घुल मिलकर रसमय रहता वह भाव परम ।'

आत्मा परमात्मा के एकीकरण को लेकर अन्य दर्शन भी सामने आते हैं । लेकिन प्रसाद शैव दर्शन से अधिक प्रभावित हैं । इसका मुख्य कारण है कि जहाँ बौद्ध सृष्टि में सर्वं दुखम्-दुखम्, शून्यम्-शून्यम्, क्षणिकम्-क्षणिकम् की दुहाई देते हैं वहाँ प्रसाद सब आनन्दमय है, रसमय है, श्रद्धामय है, भावमय है का पाठ दुहराते हैं । शङ्कर का अद्वैत मत ही आत्मा को दुख से व्याप्त बताता है । सांख्य दर्शन भी सृष्टि में दुखमय की सत्ता मानता है । लेकिन प्रसाद का आत्मवाद आनन्द से ओत-प्रोत है । दूसरे शङ्कर अद्वैत में ज्ञान की प्रधानता देते है और प्रसाद ने श्रद्धा को महत्व दिया है । प्रसाद जगत् और ब्रह्म में अभेद देखते हैं पर अन्य दर्शन प्रकृति, पुरुष और ब्रह्म में एक बहुत बड़ा व्यवधान स्वीकार करते हैं । इससे निश्चित है कि प्रसाद पर शैव दर्शन का प्रभाव भी पड़ा है ।

प्रसादजी किस प्रकार के आनन्दवादी हैं ?—विश्व में वस्तुत: दो प्रकार के अनन्दवादी होते हैं । जो निम्न हैं :—

---

[१] तैत्तिरीय उपनिषद् २ : ७ : १ ।

[२] बृहदारण्यक उपनिषद् ।

क—जो विकट परिस्थितियों में पड़ने पर तथा अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं के होने पर विश्व से तटस्थ रहकर उसका कल्याण करते हुए अपने उद्दिष्ट मार्ग पर चलते हैं, तथा

ख—जो विश्व के प्रति अपना कोई दायित्व न समझ स्वयं के आनन्द में लीन रहते हैं।

प्रसादजी प्रथम (क) प्रकार के आनन्दवादी हैं।

प्रसाद के आनन्द का मूल—तैत्तिरीय उपनिषद् में "अयायात्मा परानन्द" के अनुसार आत्मा को आनन्द स्वरूप मानते हैं। आनन्दमय जीवन किस प्रकार हो सकता है यही श्रद्धा एवं मनु के जीवन से बताया गया है।

गीता तथा माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार भी श्रद्धा-वान व्यक्ति ही आत्मा के सत्य स्वरूप को पहचानकर आत्मानन्द में लीन हो जाता है। इसके समर्थन में प्रसाद का मनु जब तक श्रद्धा के संसर्ग में है तब तक सुखी है किन्तु जैसे ही वह इड़ा के साहचर्य में आता है वैसे ही उसका पराभव होता है। अतएव हम यदि मनु के इस भाव को क्रीड़ात्मक 'सी-सा' झूले से स्पष्ट करें तो वह निम्न प्रकार से होगा—

कल्पना कीजिए मनु उस केन्द्र बिन्दु पर हैं जहाँ एक ओर श्रद्धा है तथा दूसरी ओर इड़ा। मनु यदि इड़ा (बुद्धि) की ओर झुकते हैं तो वह उन्हें पराभव दे अन्नमय कोष या प्राणमय कोष में गिरा देती है किन्तु जब मनु श्रद्धा (हृदय) की ओर बढ़कर उसके आलिं-गन पाश में बँधते हैं तब वह उन्हें ऊपर उठा आनन्द-मय कोष में पहुँचा देती है जहाँ मनु को त्रिपुर का दर्शन हो, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के एकीकरण का आभास होता है। यदि इस भाव को चित्र के द्वारा दिग्दर्शित करना चाहें तो वह निम्न ढंग से होगा—
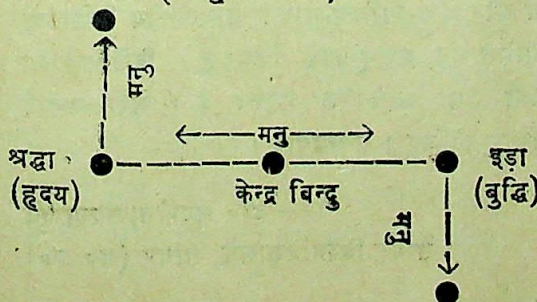
इस प्रकार श्रद्धा की भूमिका आनन्द प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण है। फिर भी इस स्थल पर कुछ लोग प्रसाद को बुद्धि का विरोधी मानते हैं और उससे उनका घोर विरोध प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।

क्या प्रसाद बुद्धि के विरोधी हैं ?—किसी व्यक्ति का हृदय जब श्रद्धालु है तो बुद्धि या ज्ञान तो उसमें स्वतः ही आ जाता है क्योंकि बुद्धि तो श्रद्धा की अनु-गामिनी है।[1]

अतएव भेदभाव के रहते आनन्द कहाँ ? सारस्वत प्रदेश में इड़ा (बुद्धि) मनु (मन) के लिए नियम बनाती है किन्तु मन में जब तक श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, उसका पालन करना सम्भव नहीं। अन्ततः श्रद्धा जिसके प्रति रहती है उसके लिए तर्क की आवश्यकता ही नहीं। फिर भी मनु जब श्रद्धा को पाकर भी कुछ बुद्धिवादी बने भटक रहे थे तब प्रसाद ने उस समय हुङ्कार भरी—

> तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में,
> कुछ सत्ता है नारी की।
> समरसता सम्बद्ध बनी,
> अधिकार और अधिकारी की॥

फलतः यह प्रमाणित होता है कि प्रसाद बुद्धि के के विरोधी नहीं हैं अपितु उसे श्रद्धा को अत्यधिक चमत्कृत एवं फलीभूत बनाने के लिए आवश्यक मानते हैं। बुद्धि कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती वरन् सहयोग दे सकती है। इसीलिए श्रद्धा मानव को मनु को ढूँढ़ने जाते समय इड़ा के पास छोड़ जाती है। क्योंकि मार्ग में मानव के कारण विपत्ति आने की आशंका भी तो हो सकती है। (एक बार तो आ ही चुकी थी) इसी स्थल पर श्रद्धा का लौकिक रूप प्रख-रित होता है और वह अपने पुत्र शर्याति को भी समरसता के सिद्धान्त का अनुयायी एवं प्रचारक होने को उपदेश देती है—

> सबकी समरसता का कर प्रचार
> मेरे सुत, सुन माँ की पुकार।

[1] श्रद्धावान लभ्यते ज्ञानम्।—गीता

यह समरसता का भाव समान आस्वादन वाले को माना जाता है। 'समरस' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग शैवागम में ही हुआ है। जिसमें शिव और शक्ति के परस्पर तादात्म्य संवेद्य को सामरस्य या समरसता कहा गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दोनों भेदाभेद संवेद्य से आस्वादन की भूमिका में समान रूप से अधिष्ठित हैं। अर्थात् आनन्द-बोध के समान दोनों समान हैं। यह समरसता ही भारतीय कला की आधारपीठिका है। विषय और विषयी में, दृश्य, दृष्टि और द्रष्टा में, ग्राह्य और ग्राहक में तथा भावक, भावना और भाव्य में इसी की पूर्णता पाना भारतीय कला या कविता का मूल उद्देश्य बना। कला या काव्य का आस्वादन संवित् की वह स्थिति है जब वह बाह्य विकल्पों से एकदम विरहित होता है और नाना रूपात्मक जगत् उसमें प्रकाशमान रहता है। यही समरसता की या तन्मयी भाव की स्थिति है। इसमें पहुँचे बिना न तो कला की सृष्टि हो सकती है और न कला की परख ही। प्रसाद ने इसी समरसता की स्थिति को कामायनी में चरम उपलब्धि की भूमिका के रूप में अपनी मान्यता दी है।

समरसता की यह अवस्था विषयातीत होती है। इसे प्राप्त कर लेने पर सभी प्रकार की आकांक्षाओं, ईप्साओं का अवमान हो जाता है। कवि की दृष्टि में आनन्द ही योग है, आनन्द ही मोक्ष है और आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से परे और कुछ नहीं है। दर्शन परमात्मा के अस्तित्व तथा अनस्तित्व की घोषणा 'तर्क' के द्वारा करता है किन्तु प्रसाद इसे 'अनुभूति' का विषय मानते हैं। उन्होंने दर्शन की आध्यात्मिकता को व्यावहारिक रूप दिया है। मनु, श्रद्धा, इड़ा तथा शर्याति (मानव को कैलाश की ओर दिखा कर प्रसाद उस आनन्द लोक का वर्णन करते हैं जहाँ पाप-पुण्य कुछ नहीं है, सब समरस है—

अपने सुख दुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मंगल,
यह सत्य, सतत्, चिर-सुन्दर।।

—२९ ए–गांधीनगर, आगरा।

साधना विशेषांक पर कुछेक सम्मतियां—

'साहित्य-सन्देश' का नव प्रकाशित 'साधना अङ्क' प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

इस अङ्क में सन्त साहित्य के विशेषज्ञ विद्वान श्री परशुरामजी चतुर्वेदी से सम्बन्धित बड़ी सुन्दर सामग्री है। श्री चतुर्वेदीजी विज्ञापनबाजी से दूर रह कर सतत् साहित्य-साधना में तल्लीन रहने वाले महानुभाव हैं। उनके सम्मान में इस अङ्क को प्रकाशित कर आपने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है।

—प्रभुदयाल मीतल
मथुरा

'साहित्य-सन्देश' का 'साधना-विशेषाङ्क' मिला। आभारी हूँ।

आपने हिन्दी के मूक साधक पं० परशुराम चतुर्वेदी और सन्त-साहित्य-साधना पर स्तरीय विशेषाङ्क प्रकाशित कर, महान् कार्य किया है। विशेषाङ्क का स्थायी तथा शोधपरक महत्त्व है। मेरी बधाई स्वीकार कीजिए। सधन्यवाद।

—डा० लक्ष्मीनारायण दुबे
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)

चन्द्रगुप्त नाटक में औदात्य और नाटकीय संघर्ष की स्थिति

● सुरेशचन्द्र शर्मा

जीवन की अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहासों का व्यंग्य मलिन उपहास देखने वाले स्वयं प्रसाद के व्यक्तित्व का ही नहीं अपितु उनके साहित्य का भी उद्देश्य उस सीमा तक पहुँचना रहा है—जिसके आगे राह नहीं हुआ करती। शिव की तरह एक ओर उन्होंने जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं और संघर्षों के हलाहल का पान किया तो दूसरी ओर शान्त और गम्भीर हँसी हँसते हुए साहित्यिक जगत् को काव्य का अमृत भी प्रदान किया। उनके व्यक्तित्व की तरह उनके साहित्य की मूल-चेतना का स्वर भी वैषम्य का सृजन करने वाला रहा है। एक ओर उसमें अमृत है तो दूसरी ओर विष, एक ओर सुखात्मक भावनाओं का साम्राज्य है तो दूसरी ओर दुःखात्मक अनुभूतियों का ज्वार। यह विशेषता उनके नाटकों में और भी अधिक प्रबल हो उठी है। इन नाटकों का पट यद्यपि ऐतिहासिक सूत्रों से निर्मित हुआ है परन्तु नाटककार प्रसाद के समन्वयवादी व्यक्तित्व से उनमें कल्पना के रंगीन धागे भी मिल गए हैं। जहाँ भारतीय नाट्यकला के अनुरूप इनमें रसात्मकता की स्वीकृत है वहाँ पाश्चात्य नाट्यकला के अनुसार द्वन्द्व की प्रधानता भी। इन दोनों नाट्यकलाओं के प्रभाव स्वरूप औदात्व और संघर्ष का समन्वय भी यहाँ परिलक्षित होता है—जो प्रसाद के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। उनका 'चन्द्रगुप्त' नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

औदात्य और संघर्ष की अवस्थित का रूप 'चन्द्रगुप्त' नाटक में किस प्रकार का रहा है (उत्कर्ष प्रदायक अथवा अपकर्ष विधायक) यहाँ इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व इन दोनों ही शब्दों—औदात्य और संघर्ष को स्पष्ट कर देना उचित होगा। जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है वह उदात्त कहलाता है।"[1] और "नाटक की वह स्थिति जिसमें विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती हैं तथा जो कथावस्तु को निर्णयात्मक क्षण प्रदान करती हैं, संघर्ष कहलाती हैं।"[2] 'उदात्त' और 'संघर्ष' ये दोनों ही शब्द एक दूसरे के विरोधी हैं। उदात्त जीवन की पूर्णता, महत्ता, और गरिमा आदि का व्यञ्जक है तो संघर्ष जीवन के अभावों, दुर्बलताओं एवं क्षुद्रताओं का प्रतीक। एक जीवन के आदर्श की अभिव्यक्ति का माध्यम है तो दूसरा यथार्थ की प्रतीति कराने में सहायक। उदात्त का सम्बन्ध महाकाव्य से अधिक है तो संघर्ष का नाटक से। कारण स्पष्ट है, महाकाव्य में जीवन की समग्रता का आकलन रहता है, इसलिए उसके कथानक, पात्र, उद्देश्य, कथोपकथन एवं शैली आदि सभी में एक प्रकार की गरिमा निहित रहती है परन्तु नाटक में जीवन की अपूर्णता का साम्राज्य होने से उत्थान-पतन को अधिक स्थान मिलता है—तभी उसकी नाटकीयता प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार उदात्त की स्थिति विशुद्धोदात्त, मात्र उदात्त एवं अपोदात्त आदि रूपों में मानी जा सकती है, उसी प्रकार संघर्ष भी अनेक रूपों में परिलक्षित हो सकता है,

[1] जगदीश पाण्डेय—उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन्, पृ० १

[2] हिन्दी साहित्य कोष (भाग १), सं० धीरेन्द्र वर्मा—पृ० ८४८

जैसे—बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष। कतिपय विद्वानों[1] क दृष्टि में यही संघर्ष तीन कोटियों में स्वीकार किया गया है—(१) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच द्वन्द्व या नायक और प्रतिनायक का का संघर्ष, (२) एक ही मनुष्य की अनेक वृत्तियों का द्वन्द्व, (३) शुभ और अशुभ विचारों का व्यापक द्वन्द्व (संघर्ष)। भारतीय समीक्षा-जगत् में 'उदात्त' का अलंकार के रूप में[2] तो उल्लेख हुआ है किन्तु काव्य की कोटि सिद्धि के रूप में नहीं। इसी प्रकार संघर्ष के स्थान पर यहाँ नाटक के लिए रसात्मकता आवश्यक समझी गई। परन्तु पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप आधुनिक भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में इन दोनों ही तत्त्वों का व्यापक विवेचन हुआ है और ये दोनों ही तत्त्व साहित्य-निकष के रूप में ग्रहीत हुए हैं—उदात्त महाकाव्य के लिए और संघर्ष नाटक के लिए। परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद की नाट्यकला वह विशेषता लिए हुए है कि उनके नाटकों में औदात्य और संघर्ष की समान रूप से स्वीकृति है—चन्द्रगुप्त नाटक भी इन्हीं दोनों तत्वों के समन्वय का परिणाम है। इस नाटक में एक ओर महाकाव्योचित औदात्य भी है है तो दूसरी ओर नाटकीय संघर्ष भी।

महाकाव्योचित औदात्य की दृष्टि से यह नाटक भारतीय गौरव, शक्ति, उत्साह एवं पराक्रम का प्रतीक है जिसका टेक्निकल साँचा बहुत कुछ महाकाव्योचित गरिमा से अभिमण्डित है। नाटक का कथानक दीर्घ-काल व्यापिनी घटनाओं से संग्रथित है। पचीस-तीस वर्षों वाला कथानक महाकाव्य के बहुत अनुकूल हो सकता है।[3] इसमें उदात्त पात्रों के इतिवृत्त उपस्थित किए गए हैं जो भारतीय संस्कृति और आदर्शों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। जिनसे किसी भी युग और देश की जनता प्रेरणा ग्रहण कर सकती है। चाणक्य का महत् व्यक्तित्व महाकाव्य के नेता (नायक) से किसी भी प्रकार कम नहीं है। वह विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है जिसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड़ किया करती है। उसका ब्राह्मणत्व परम प्रबल है जिसकी अभिव्यक्ति वह "मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना नदियों को पचाते हुए सीमा से बाहर न जाना यही तो ब्राह्मण का आदर्श है" कह कर करता है। चाणक्य की रग-रग में महत्त्वाकांक्षा की भावना परिव्याप्त है। चन्द्रगुप्त से वह स्पष्ट शब्दों में कहता है–"महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।" उसकी महत्वाकांक्षा का ध्येय स्वार्थ की संकुचित सीमाओं से बहुत ऊपर उठा हुआ है। चाणक्य का लक्ष्य केवल विदेशी आक्रमणकारियों से देश को मुक्त कराना मात्र नहीं है वरन् समस्त आर्यावर्त को एक सूत्र में बाँधकर राष्ट्र को विशृङ्खलित शक्तियों को संगठित करना है। अपनी महत्त्वाकांक्षा की सिद्धि के लिए मालविका के प्राण लेने तक में भी उसे कोई संकोच नहीं और कल्याणी की आत्महत्या को देखकर तो वह कह ही उठता है—"चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कण्टक हुए।" मात्र वैभव-प्रदर्शन उदात्त कोटि में नहीं आ सकता—भावनाओं का उन्नयन आवश्यक है। चाणक्य की यह महत्त्वाकांक्षा जिसमें वह केवल सिद्धि देखता है और वर्तमान के लिये क्रूर बनता है उदात्त कोटि में इसलिये आती है कि उसकी महत्त्वाकांक्षा अपने लिये नहीं 'पर-कल्याण' के लिये है—जहाँ 'स्व' की भावना से वह बहुत कुछ ऊपर उठी हुई है। यही कारण है कि उसकी सिद्धि के पश्चात् (नाटक के अन्त में) आनन्द-जलधि का वासी चाणक्य 'मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान' देते हुए यह कहकर कि 'चलो, अब हम चलें' राजनीति के रंगमंच से हट जाता है। वस्तुतः चाणक्य का चरित्र औदात्य की एक अभिनव सृष्टि

[1] डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त–साहित्यिक निबन्ध, पृ० ७१३

[2] लोकातिशय संपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेद्॥
—विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण (दशम परिच्छेद)

[3] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कृत जयशंकरप्रसाद, पृ० १६४।

है जिसकी बुद्धि-गरिमा से अभिभूत हुआ जगद्विजेता सिकन्दर अपने दम्भ को भूल कर कह उठता है—"धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ।" चाणक्य के चरित्र की तरह चन्द्रगुप्त के वीरतापूर्ण चरित्र का औदात्त्य भी कम आकर्षक नहीं जो शील और विनम्रता का बाना पहने हुए है। संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ वह यही समझता है कि "आत्म-सम्मान के लिये मर-मिटना ही दिव्य जीवन है।" प्रत्येक अवस्था में वह शत्रु की ललकार स्वीकार करने को कटिबद्ध रहता है। कायरों की सी वंचक शिष्टता से उसे घृणा है। सिकन्दर के प्रति कहे हुए उसके इस वाक्य से कि "मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं"—यह प्रकट होता है कि उसकी वीरता स्वार्थप्रेरित नहीं। चन्द्रगुप्त की वीरता का प्रदर्शन या तो गुरुदेव (चाणक्य) के आज्ञा-पालन में होता है अथवा विश्व-कल्याण में "गुरुदेव, विश्वास रखिये, यवन यहाँ कुछ भी नहीं कर सकेंगे।" फिलिप्स की कामुकता के कारण कार्नेलिया का कौमार्य संकट में है यह देखकर वह अपने बाहुबल से फिलिप्स की गर्दन पकड़कर दबा देता है और क्षमा माँगने पर उसे मुक्त भी कर देता है। वह चीते से कल्याणी की रक्षा करता है। चन्द्रगुप्त की शक्ति और वीरता का यह औदात्त्य जो 'रक्षणाय' में है निश्चय ही वरेण्य है। सिंहरण वीर है और वीरों की तरह स्पष्ट वक्ता भी। "···और वर्त्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा, फिर चिन्ता किस बात की" कहने वाले सिंहरण की वीरता आत्मविश्वास से पूर्ण है। उसका सम्पूर्ण चरित्र एक योग्य मित्र के औदात्त्य की प्रतिकृति है जो चन्द्रगुप्त के साथ अपने मित्र भाव को विरोधी परिस्थितियों में भी बनाए रखता है। पर्वतेश्वर का चरित्र क्षत्रियोचित दर्प की गरिमा लिये हुए है। सिकन्दर के साथ अकेले ही वह युद्ध में तत्पर रहता है और सेनापति को आदेश देता है "उन कायरों को रोको, उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नहीं···।" राक्षस का चरित्र स्वामिभक्ति का आदर्श प्रस्तुत करने वाला है और वररुचि का चरित्र क्षमा शीलता का। "मेरी स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।" सिकन्दर के अनुचरों से इस प्रकार निर्भीक वचन कहने वाला दाण्ड्यायन त्याग, तपस्या और संयम की साक्षात् मूर्ति है।

उपर्युक्त पुरुष पात्रों की तरह स्त्री-पात्र भी अपने-अपने चरित्रों द्वारा औदात्त्य की व्यञ्जना करने में सहायक हुयी हैं। अलका, सुवासिनी, मालविका आदि नारी पात्रों में अलका का चरित्र अधिक विकसित है जिसमें देश-भक्ति की धुन समाई हुई है। "हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती" का उद्बोधन करने वाली अलका एक ओर देशोद्धार के प्रयत्न में बन्दिनी बनाई जाती है तो दूसरी ओर अपनी वीरता के बल पर वह मालव दुर्ग में सिकन्दर का प्रतिरोध भी करती है। देश-प्रेम और वीरता की भावना में सराबोर अलका भारतीय नारी की एक आदर्श कल्पना है। "यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का सकल्प रखते हो ? फिर अपने को नहीं ?" कहने वाली सुवासिनी कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम, पथ-भ्रष्ट मानव को उचित राह पर लाने वाली आदर्श नारी का प्रतीक है। मालविका का प्रेम अनौपचारिक प्रेम का आदर्श है जो चन्द्रगुप्त के प्रणय-सूत्र में बँधी हुई उसकी रक्षा के लिए अपना जीवन ही उत्सर्ग कर देती है। कार्नेलिया का चरित्र एक उदार नारी के रूप में प्रकट हुआ है। इसी प्रकार कल्याणी का चरित्र भी गरिमा-मण्डित है जिसने "वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त।"

उद्देश्य और रस की दृष्टि से भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक औदात्त्य की सृष्टि करता है। नाटक का प्रधान स्वर राष्ट्रीयता की भावना में है। विदेशियों को पराजित करने, समस्त देश को एकता के सूत्र में बाँधने और विराट् साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में नाटक का उद्देश्य निहित है। जिसको क्रियान्वित रूप चन्द्रगुप्त और

चाणक्य के द्वारा मिला है। नाटक के प्रारम्भ में ही चाणक्य का स्वर सुनाई देता है। "मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।" उद्देश्य की इस भावना में संकीर्णता की गंध नहीं अपितु व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण निहित है। रस की दृष्टि से देखें तो इस नाटक का संवेद्य रस वीर है तथा उसका पोषक श्रृंगार और नियामक शान्त है। इन तीनों रसों की त्रिपथगा नाटक में प्रवाहित हो रही है। जिस प्रकार सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता में और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव में अन्ततः विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार वीर और श्रृंगार की धाराएँ यहाँ शान्त रस की धारा में घुल मिल गई हैं।

भाषा-शैली के विकास की चरम परिणति के लिए तो प्रसाद के सभी नाटक प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस नाटक की भाषा में लालित्य और प्रवाह अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक है। "अकस्मात् जीवन कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है।" इत्यादि स्थलों पर अबाध गति से बहने वाली गद्य भाषा, कल-कल ध्वनि करती हुई, प्रगीतात्मक स्वर छेड़ती हुई सी जान पड़ती है। "वस्तुतः 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद ने भाषा का एक ऐसा अनुपम एवं मनोहर सँसार निर्मित किया है जिसकी ध्वनि निराली है और वह अन्यत्र दुर्लभ है।"[1] शैली में चमत्कार और काव्यात्मकता है। गीतों की संख्या तेरह है और कवित्तपूर्ण संवाद भी अनेक हैं। इसी शैली द्वारा नाटककार प्रसाद ने अपने नाटक को गांभीर्य और स्थायित्व देने की चेष्टा की है। इस प्रकार सम्पूर्ण 'चन्द्रगुप्त नाटक आद्यन्त महाकाव्योचित उदात्त कथानक, उदात्त चरित्र-चित्रण, उदात्त उद्देश्य, उदात्त रस एवं भावाभिव्यञ्जना तथा उदात्त भाषा शैली आदि की समष्टि है। डा० बच्चनसिंह का यह कथन कि "प्रसाद के नाटकों का गांभीर्य औदात्य हिन्दी के किसी अन्य नाटककार में नहीं पाया जाता"[2] वस्तुतः इस नाटक के विषय में भी सत्य है।

औदात्य के साथ-साथ नाटकीय संघर्ष की स्थिति भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक में विद्यमान है। वाह्य संघर्ष में तो इस नाटक के पात्र डूबते-उतराते ही हैं साथ ही आन्तरिक संघर्ष के तीव्र थपेड़ों से भी वे बेचैन हो उठते हैं और दोनों का सम्मिलित प्रयत्न ही इन पात्रों के चरित्र को स्फटिक के समान निखार देता है। नाटक के सभी पात्रों में उत्तेजना है, जोश है—एक संघर्ष की भावना है और क्रान्ति की हल-चल से जीवन की व्यग्रता है। वाह्य संघर्ष की दृष्टि से युद्ध आदि भीषण दृश्य उपस्थित हुए हैं। बातों ही बातों में आम्भीक और चन्द्रगुप्त में झगड़ा हो जाता है और तदनन्तर एक दूसरे के खून की प्यासी दोनों की तलवारें चमक उठती हैं। नन्द की राज-सभा में चाणक्य के यह कहने पर कि "सावधान नन्द! तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी" उसकी शिखा ही खींच ली जाती है और अन्ततः बेचारा बन्दी बनाया जाता है। इसी प्रकार सिकन्दर के आदेश से आंभीक, फिलिप्स और एनिसाक्रेटीज चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने की चेष्टा करते हैं पर वह अपने असाधारण पराक्रम से तीनों को आहत कर निकल जाता है। जगद्विजेता का अभिनय करने वाले सिकन्दर को मालव युद्ध में चन्द्रगुप्त ही परास्त करता है। चन्द्रगुप्त के द्वारा चीते से कल्याणी की रक्षा, राज-प्राप्ति और सिल्यूकस से संधि भी इसी वाह्य संघर्ष के विषय हैं। चाणक्य और राक्षस की बुद्धि और विवेक का द्वन्द्व भी कम आकर्षक नहीं है। एक ओर राक्षस, चाणक्य को अपदस्थ करने में प्रयत्नशील हैं तो दूसरी ओर चाणक्य अपनी कूटनीति और मेधा से राक्षस को वशीभूत करने में व्यग्र। वस्तुतः 'चन्द्रगुप्त' नाटक में संघर्ष का यह रूप व्यापक आधार लेकर प्रस्तुत हुआ है जो वैयक्तिक कम परन्तु राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अधिक है। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर का संघर्ष भारत और यूनान का संघर्ष है—अरस्तू और चाणक्य की चोट है। जिसकी अभिव्यक्ति कार्ने-

[1] डा० दशरथसिंह—हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० ११६

[2] हिन्दी नाटक, पृ० ९२।

लिया के इन शब्दों में हुई है। "यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।"

'चन्द्रगुप्त' में अन्तर्द्वन्द्वात्मक चरित्रांकन पद्धति के आधार पर आन्तरिक संघर्ष को भी वाणी मिली है। नाटक के प्राय: सभी पात्र जीवन के विभिन्न अंगों से आए हुए आत्म चेतना से उद्वेलित संघर्षरत व्यक्ति हैं। फलस्वरूप चन्द्रगुप्त, कल्याणी, राक्षस, चाणक्य और मालविका आदि का अन्तर्द्वन्द्व अत्यन्त ही स्पष्टता के साथ उभर सका है। इन पात्रों के मानस में अन्तर्द्वन्द्वों का घात-प्रतिघात पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। कल्याणी का चन्द्रगुप्त के प्रति मूक प्रम और उस प्रेम की प्यास के लिए तड़पकर मर जाना उसके हृदय का हृदयस्पर्शी द्वन्द्व हैं। स्नातकोत्तर परीक्षा से लेकर राज्याभिषेक तक युद्धों की शृङ्खला का प्रधान सेनानी चन्द्रगुप्त अपने अन्तर की क्षुधा मिटाने का अवसर ही नहीं पाता है। व्यथित होकर वह मालविका के के सामने अपना हृदय खोलकर रख देता है—"युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका! आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभावों से द्वन्द्व! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है।" राक्षस सुवासिनी से प्रेम करता है पर जब कभी उसे हस्तगत करने की सोचता है, राजकोप उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। चाणक्य का प्रबल व्यक्तित्व भी आन्तरिक संघर्ष से बच नहीं पाया है। मगध के बन्दीगृह में पड़ा चाणक्य का मन संकल्प-विकल्पों से भर उठता है। उसके हृदय में चलने वाले प्रणय और लोकहित की भावना का द्वन्द्व अभिराम है। निस्सन्देह प्रसाद ने संघर्ष के बल पर नाटक में जो स्वाभाविकता का सृजन किया है वह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का द्योतक है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में औदात्य के साथ-साथ संघर्ष को भी स्थान मिला है। इसलिए यह कहना कि इस नाटक में संघर्ष है ही नहीं—मात्र व्यर्थ का दोषारोपण ही होगा। हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ महाकाव्योचित औदात्य का स्वर इतना प्रखर है कि नाटकीय संघर्ष की ध्वनि मन्द-सी पड़ गई है। अगर प्रसादजी औदात्य को इतना अधिक न अपनाकर संघर्ष को अधिक अपनाते—जो कि नाटक का अनिवार्य गुण है तो निस्सन्देह 'चन्द्रगुप्त' नाटक की उत्कृष्टता में और भी वृद्धि हुई होती। औदात्य और संघर्ष की संस्थिति 'स्कन्दगुप्त' में भी है परन्तु वहाँ घटनाओं के बीच संघर्ष की भावना अधिक प्रबल है—वहाँ ऐसी स्थितियों की योजना की गई है जो अधिक नाटकीय हैं। 'स्कन्दगुप्त' को श्रेष्ठता प्रदान करने वाली दूसरी वस्तु है चरित्र-चित्रण का व्यक्तिगत पक्ष तथा उसका उत्थान-पतन। यही नहीं उसमें घटनाओं का भी पर्याप्त उत्थान-पतन दिखाया गया है और विरोध का तत्त्व भी प्रबल है। पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक के औदात्य ने नाटकीय संघर्ष के विकास में बाधा पहुँचाई है। इस नाटक का कथानक वर्षों का समय लेता है। फलत: इसका वस्तु-विन्यास महाकाव्य के अनुकूल अधिक कहा जा सकता है—नाटक के अनुरूप कम। इसमें स्थितियों का वास्तविक वैषम्य नहीं है। ऐसी घटनाएँ नहीं हैं जो हमारी दृष्टि को निर्णय के सम्बन्ध में उलझाए रखें। भाषा की रसात्मकता पाठक को साधारण जीवन से दूर एक आदर्श जगत् की ओर ले जाने वाली हो गई है जहाँ के पात्र हमारी साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न भाषा में वार्तालाप करते हुए मिलते हैं। यौवन में पदार्पण करने वाली कार्नेलिया को यौवन और प्रेम का पाठ पढ़ाते-पढ़ाते सुवासिनी कवि ही बन जाती है। यही नहीं, कभी-कभी साधारण स्थलों पर जहाँ मनोवेगों के चित्रण को स्थान भी न था वहाँ भी प्रसादजी अलंकृत भाषा, (एक ऐसी भाषा जो महाकाव्य की गरिमा से युक्त है) का उपयोग करते हैं। "आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है" एवं "एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त के लोह अस्त्रागार में विस्फोट करेगा" इत्यादि स्थल इसी प्रकार के हैं। इस औदात्य का

लोभ संवरण न करने के कारण ही जो दृश्य नाटक के कथा-प्रवाह में सहायक नहीं हैं वे भी ठूँस दिए गए हैं। सिकन्दर महान् का दार्शनिक दाण्ड्यायन से मिलना नाटक की कथावस्तु से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं रखता। फिर भी, प्रसादजी ने एक पूरा दृश्य अपने नाटक में रख दिया है—बस इसलिए कि उन्हें दाण्ड्यायन के चरित्र का औदात्य प्रस्तुत करना था। साथ ही, इस नाटक में चाणक्य का महत् व्यक्तित्व भी महाकाव्य के नेता की भाँति विरोधी पक्ष को अधिक शिथिल बना देने वाला है। प्रसाद का राक्षस 'मुद्राराक्षस' के राक्षस के साथ एक समानान्तर रेखा पर खड़े होने में असमर्थ है। उसका विरोधी चरित्र इतनी प्रमुखता पर नहीं आया है कि उसे प्रतिनायक माना जा सके। इसलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को कहना पड़ा है कि "चन्द्रगुप्त चरित्र प्रधान नहीं कव्योपजीवी नाटक है।"[१]

इस नाटक के प्रधान पात्र चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त परिस्थितियों से बहुत कुछ ऊपर उठे हुए हैं जिससे संघर्ष का पूरा विकास नहीं हो पाया है। नाटक में एकाध स्थल ऐसा भी है जहाँ चाणक्य के चरित्र की दुर्बलता को प्रकट होने का अवसर आया है—सुवासिनी से सम्बन्धित विगत जीवन की स्मृतियों से वह बेचैन हुआ है। किन्तु तुरन्त ही उसका हृदय "जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्य के यौवन" से भर उठा है और सुवासिनी की वह 'क्षीण-रेखा' उसके 'जीवन-पट' से धुल गई है। परिणाम यह हुआ है कि संघर्ष पूर्णतः उद्बुद्ध नहीं हो सका है और वहाँ शेष रह गया है वही चाणक्य के व्यक्तित्व का औदात्य। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के चरित्र में भी उतार-चढ़ाव कम ही परिलक्षित होता है। जब कभी चाणक्य उसे कर्त्तव्यच्युत पाता है तभी सावधान कर देता है "छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है मौर्य्य!" जिससे चन्द्रगुप्त के नाटकीय जीवन में ऐसे अवसर कम ही आ पाते हैं जिनमें वह शृङ्गारिक भावनाओं का आलम्बन बना हो। उसके चरित्र में वीरत्व और कोरा वीरत्व है। उसमें किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक और नाटकीय अभिसन्धि के लिये स्थान नहीं है। वस्तुतः चाणक्य के कंकाल में जो दिव्य ज्योति दिखाई पड़ती है उसकी चमक से चन्द्रगुप्त नाटक के पात्रों की आँखें झप जाती हैं। अलका का देश-सेविका रूप भी इतना उभार दिया गया है कि उसकी नारी जनोचित सरसता बहुत कुछ कृत्रिम हो गई है। कहने का आशय यह है कि चन्द्रगुप्त नाटक में चरित्रगत वैविध्य की न्यूनता है। नाटक पात्र दृष्टि से पागलों का सा अजायबघर हो गया है और पात्रों की दार्शनिकता व्यक्तिगत सनक सी हो गई है। संघर्ष पक्ष के निर्बल पड़ने के कारण अलक्षेन्द्र, नन्द और राक्षस तीनों में से कौन प्रतिनायक है, यह प्रश्न भी अनिश्चित सा रह गया है। किसी भी अच्छे नाटक के लिये यह दोष ही है कि नायिका की स्थिति सुव्यवस्थित न होने पाए। एक बात और ध्यातव्य है कि इस नाटक में रंगमंच की अवहेलना का कारण भी औदात्त्य की अतिशयता है। यहाँ स्थानान्विति और कलान्विति की अवहेलना है। प्रायः २२ वर्षों का समय नाटक में आया है। वस्तु-योजना भी अत्यन्त शिथिल है। अतः कहना न होगा कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक नाटकीय संघर्ष की कमी के कारण और औदात्य की अतिशयता के कारण अनेक दोषों से भर गया है। निष्कर्ष यही है कि "चन्द्रगुप्त में महाकाव्य का औदात्त्य अधिक है, नाटक का संघर्ष कम।"[१]

—हिन्दी-विभाग, आगरा कालेज, आगरा।

[१] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशङ्कर प्रसाद, पृ० १६८

[१] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशंकरप्रसाद, पृ० १६७।

काव्य में ललित कलाओं का तारतम्य और अन्तरावलम्बन

● डा० कन्हैयालाल सहल

ललित कलाओं में सर्वोच्च स्थान किसे दिया जाना चाहिए, यह विषय विवादास्पद है। कुछ समीक्षक संगीत को सर्वोत्कृष्ट मानने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि संगीत के शास्त्रीय पक्ष को यदि थोड़ी देर के लिए दृष्टि में न रखा जाए तो संगीत समझे न जाने पर भी सब मनुष्यों पर अपना प्रभाव डालता है, और मनुष्यों पर ही क्यों, संगीत की मोहिनी शक्ति तो पशु-पक्षियों पर भी अपना चमत्कार दिखलाती है। इसके विपरीत वर्ड्स्वर्थ का अमरता-विषयक संबोधन-गीत अथवा प्रसाद की कामायनी का कोई अंश सुनाया जाय तो बुद्धि-जीवियों की अल्पतम संख्या ही उसे सुनने के लिए एकत्र हो सकती है किन्तु किसी मधुर संगीत को सुनने के लिए बहुत बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे होते देखे गये हैं।

किन्तु इस पर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो उक्त स्थापना को स्वीकार करना कठिन होगा। यह तो सच है कि किसी प्रकार का स्वर-सामंजस्य अथवा मधुर तान सब को प्रभावित करती है किन्तु प्रश्न यह है कि जिसे महान् संगीत की संज्ञा दी जाती है, क्या उसमें भी सार्वभौम आकर्षण दृष्टि-गोचर होता है ? मैं समझता हूँ, नहीं।

दूसरी बात यह है कि संगीत-श्रोताओं की अपेक्षा उपन्यास तथा कहानियों को पढ़ने वालों की संख्या कहीं अधिक है। अतः संगीत की व्यापक 'अपील' का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इसके अतिरिक्त लोकप्रियता और कलात्मकता में अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ना भी उचित प्रतीत नहीं होता। लोकप्रियता की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों ने अधिक ख्याति प्राप्त की जबकि प्रसादजी का कामायनी जैसा सुप्रसिद्ध महाकाव्य भी लोकप्रिय नहीं हो सका किन्तु लोकप्रियता के अभाव के कारण कामायनी की कलात्मकता जाती रही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः देखा जा सकता है कि कलात्मक कृतियाँ उतनी लोकप्रिय नहीं होतीं। आधुनिक कवियों की भी बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें सामान्य जनता न पढ़ती है और न जिसमें समझने की ही क्षमता है। ऐसी कविताओं को स्वयं कवि ही समझता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इस प्रकार की कृतियों को बिना समझे ही कवि के व्यक्ति-गत मित्र और प्रशंसक दाद देते देखे गये हैं। इस प्रकार की कला भी एक दूसरे अतिवाद का स्पर्श करती है जिसे वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

किन्तु यह निष्कर्ष निकालना भी कि कोई भी महान् कृति लोकप्रिय नहीं होती, भ्रामक सिद्ध होगा। तुलसीदास का विश्व-विश्रुत रामचरितमानस लोक-प्रियता और कलात्मकता दोनों दृष्टियों से स्पृहणीय आदर्श प्रस्तुत करता है।

कुछ समीक्षक मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ललित कलाओं की श्रेणियाँ निर्धारित करते हैं। इस कसौटी की दृष्टि से जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहता है, वह उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की समझी जाती है। काव्य-कला में एक प्रकार से मूर्त आधार का अभाव रहता है, इसलिए उसका आधार सर्वोपरि है। काव्य के बाद दूसरा स्थान संगीत का है क्योंकि स्वरों का आरोह या अवरोह ही उसका आधार होता है। संगीत के बाद उत्कृष्टता के क्रम में

चित्रकला मूर्तिकला तथा वास्तु कला की गणना की जाती है। ललित कलाओं की पारस्परिक स्पर्धा की अपेक्षा इनके अन्तरावलम्बन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक एवं वांछनीय है। संगीत एकांत स्वरात्मक होता है, वह काव्य की भाँति शब्दार्थात्मक नहीं होता। इसलिए उसकी अपनी सीमा है जिसका अति-क्रमण सम्भव नहीं। संगीतकार स्वरों के माध्यम से युद्ध वर्णन आदि का भाव प्रकट नहीं कर सकता। काव्य भी बिना संगीत की सहायता लिए उतना प्रभावक सिद्ध नहीं हो सकता। मीरा के पदों में जो आकर्षक है, वह केवल शब्द और अर्थ जन्य ही नहीं है, उसमें पदों के संगीत का भी महत्वपूर्ण योग है। बिना संगीत के मीरा का काव्य चिरजीवी नहीं हो सकता था।

चित्रकला में काव्य की-सी गतिशीलता नहीं होती। चित्रकला समय के केवल एक क्षण को पदार्थों की केवल एक स्थिति को अंकित करने में समर्थ होती है जबकि काव्य पर इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है।

किन्तु कवि भी शब्द-चित्र उपस्थित करते समय चित्रकला का आश्रय लेता है जिससे पाठक पर चित्र का सा प्रभाव पड़ सके। प्रसाद के मातृगुप्त ने तो सम्भवत: इसीलिए कविता को 'वर्णमय चित्र' की संज्ञा दी थी। मूर्तिकार और वास्तुकलाकार अपनी कृति को सुन्दर बनाने के लिए अनुपात और सामंजस्य पर ध्यान रखते हैं। कवि तथा नाटककार को भी छन्द, सर्ग, अंक आदि की संख्या तथा अनुपात पर दृष्टि रखनी पड़ती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ललित कलाएँ एक दूसरे की पूरक हैं और परस्पर सौन्दर्य-वृद्धि में सहा-यक होती हैं।

किन्तु एक दूसरे की पूरक होते हुए भी एक ललित कला का दूसरी के क्षेत्र में अनावश्यक अति-क्रमण वांछनीय नहीं है। उदाहरणार्थ गीति-काव्य में संगीत की प्रधानता होती है किन्तु यदि उसमें शब्दों का जमघट लग जाए तो उससे गीति तत्त्व को क्षति पहुँचेगी। रवि बाबू का कहना था "गीत में शब्दों का उपद्रव जितना कम रहे, उतना ही अच्छा। वाक्य जहाँ समाप्त होता है, वहीं गान शुरू होता है। जहाँ अनिर्वचनीयता की स्थिति है, वहीं गान का प्रभाव है स्वरों को छोड़कर उनके वाहनों को सजा रखना ऐसा ही होता है जैसे गणेश को छोड़ उनके चूहे को पकड़ रखना।" गीत में प्रयुक्त शब्द स्वरों के वाहन मात्र होते हैं और इसलिए शास्त्रीय संगीतकार शब्दों को विशेष महत्त्व नहीं देता। शब्द उसकी स्वर-साधना में किसी सीमा तक बाधक ही सिद्ध होते हैं।

ललित कलाओं की आपेक्षिक तथा तुलनात्मक महत्ता का विचार करके उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट इस प्रकार का श्रेणी-विभाजन उतना उपयोगी नहीं। रवि बाबू की 'ताजमहल' कविता और आगरे के ताजमहल में किसे श्रेष्ठ कहा जाय? इसी प्रकार संगीत और वास्तुकला में किसे अधिक गौरव प्रदान किया जाय? वास्तुकला की देवी रुष्ट होकर कह सकती है कि यदि संगीत ही सब कुछ है तो संगीत की सहायता से कैथे-ड्रल, ताजमहल, पिरामिड आदि का निर्माण क्यों नहीं कर लिया जाय?

किन्तु यदि ललित कलाओं में उत्कृष्टता का निर्धारण करना ही हो तो काव्य-कला के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

१—काव्य-कला अन्य सभी ललित कलाओं से सर्वाधिक मात्रा में सहायता ले सकती है। काव्य सदा से संगीत, चित्र-कला, मूर्ति-कला और वास्तु कला आदि से सौन्दर्य के उपकरण जुटाता रहा है।

२—काव्य जैसी गतिशील कला और कोई नहीं।

३—शब्द और अर्थ में जितनी शक्ति है, उतनी दुनिया की अन्य किसी वस्तु में नहीं। शब्द-ब्रह्म का जय जयकार सभी ने किया है।

४—कवि की वाणी अजर-अमर रहती है। कवि के शब्दों में—

"कुछ रज-कण ही छोड़ यहाँ से,
चल देते नरपति सेनानी।
सम्राटों के शासन की बस
रह जाती अवशेष कहानी॥
गल जाती हैं विश्व विजेता
चक्रवर्तियों की तलवारें।
युग-युग तक, पर इस जग में है
अजर-अमर कवि की वाणी॥"

—सहल सदन, पिलानी (राज०)।

प्रेमचन्द, उनका युग और हम

मुन्नीदेवी माहेश्वरी

भारतवर्ष की अपार धनराशि एवं संस्कृति विदेशियों के लिए सदैव से प्रलोभन का कारण रही है और उसी प्रलोभन के कारण विदेशी भारतवर्ष की भूमि को पदाक्रान्त करते रहे हैं। आज भी भारत चारों ओर से विकट परिस्थितियों में घिरा है, और इसकी स्वतन्त्रता को बाहर से जितना खतरा नहीं, उतना अन्दर से है। परिवार टूट रहे हैं। नारी स्वाधीनता की बात एक स्वप्न मात्र रह गई है और देश में न्याय तथा सुरक्षा सिर्फ किताबों तक, किस्से-कहानियों की बातें बनकर रह गई हैं। कौन देशभक्त है और कौन देशद्रोही, कहना कठिन है। मिलावट, घूस, चोरबाजारी, जमाखोरी, मँहगाई, कुर्सियों की लड़ाई और भ्रष्ट नाजनीति—में सब प्रश्न आज प्रेमचन्दजी के समाज से, आज के समाज के लिए ज्यादा विचारणीय हो गए हैं। साथ ही परिस्थिति में भी अन्तर है—तब हम पराधीन थे, आज हम स्वतन्त्र हैं।

जिस समय प्रेमचन्दजी ने भारतीय सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय यहाँ की जनता पूर्ण निराशा का अनुभव कर रही थी तथा निरन्तर पतन की ओर अग्रसर होती जा रही थी। कई शताब्दियों की पराधीनता ने राष्ट्र की अन्तरात्मा को कुचल डाला था और राजनीतिक दासता, आर्थिक हीनता, सामाजिक विषमता आदि ने सम्पूर्ण देश की एकता को खण्ड-खण्ड कर दिया था। अतएव ऐसे वातावरण में आवश्यकता थी कि यहाँ के लोगों के मस्तिष्क से निराशा के अन्धकार को दूर किया जाना एवं उन्हें उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया जाना। और उन्हें सुषुप्तावस्था से जाग्रति की ओर लाया जाता और एक सुनिश्चित एवं अच्छे जीवन का पथ-प्रदर्शन किया जाता। पर, यह सब केवल राष्ट्रीय नारे लगा कर ही नहीं किया जा सकता था, क्योंकि भारत की सर्वोच्च शक्ति ब्रिटिश शासन के अधीन अपने को असहाय एवं निर्बल समझ रही थी।

प्रेमचन्दजी एक कुशल-अनुभवी समाज पारखी तथा मनोवैज्ञानिक चिकित्सक थे। उन्होंने जनता की मन:स्थिति का अध्ययन किया था, इसलिए उन्होंने अपने साहित्य में यथार्थवाद का सम्बल लेकर जनता को एक अद्भुत प्रकाश प्रदान किया। जन-जागरण का सांस्कृतिक अथवा सामाजिक चेतना से विशेष सम्बन्ध है, साथ ही साथ यह भी कि साहित्यकार जो लिखे, उसमें जनता की सत्यता हो, और उसका मार्गदर्शन भी हो। प्रेमचन्दजी के साहित्य की यही विशेषता थी। उनकी लेखनी ने जन हृदय में उन भावों और अनुभूतियों को जन्म दिया, जिनको उन्होंने अपने साहित्य में महसूस किया था। प्रेमचन्दजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने साहित्य की रचना युग के साथ-साथ की है। प्रेमचन्दजी ने अपने युग की पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी समस्याओं को उठाया और उनके निराकरण के उपाय भी बताये। अगर हम यह कहें कि युग की परिस्थितियों ने प्रेमचन्दजी को उत्पन्न किया और वे परिस्थितियों की ही देन थे, तो अनुचित न होगा।

लेकिन आज जब कि हम स्वाधीन हैं परिस्थितियाँ और भी विकट हो गयी हैं। नैतिक मूल्यों का विघटन हो गया है। चरित्र नाम की चीज देखने को

नहीं मिलती। साम्प्रदायिकता जोरों पर है और कभी भी विस्फोट हो सकता है। आज किसी के भी जान माल की सुरक्षा का कोई आश्वासन नहीं है। लोग अपनी ही स्वार्थ-सिद्धि में लगे हैं। तब हमारे देश का बुद्धिजीवी, विचारक और लेखक क्या कर रहा है? क्या वह अपने उत्तरदायित्व को निभा रहा है? ऐसे कई प्रश्न उठते हैं। गुलाम भारत में प्रेमचन्द ने अपने देश और समाज के दर्द को पहचान कर अपनी कलम की धार को तेज किया था और एक के बाद एक समस्या को जनता के सामने रखते चले गये थे।

प्रेमचन्दजी ने जीवन में महात्मा गांधी तथा टाल्सटाय के आदर्शवाद, गाल्जवर्दी के यथार्थवाद और मार्क्स के प्रगतिवाद के प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया था। लेकिन आज के लेखकों की रचनाओं को पढ़ते समय लगता है कि न उनमें सिवा सैक्स के विकृत रूपों के और कुछ है ही नहीं। न समाज, न देश, न परिवार, न गाँव और न कोई विचारधारा। सिर्फ सेक्स और सेक्स। आज के लेखन में जीवन तो है ही नहीं। जो है सो केवल व्यक्तिगत। कुण्ठा और विकृत यौन प्रवृत्तियाँ।

प्रेमचन्दजी के समय का मध्यवर्गीय जीवन अनेक प्रकार की उलझनों से ग्रस्त था। मध्यवर्ग की ये उलझनें तथा परेशानियाँ भारतीय इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। महेन्द्रनाथ चतुर्वेदी ने अपने 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण' में लिखा है—"मध्यवर्ग की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं—उसकी झूठी सम्मान-भावना, मानसिक अस्थिरिता, संघर्ष से बचने की तथा समझौते की प्रवृत्ति और परमुखापेक्षिता।" इन्हीं सब तथ्यों को लेकर उन्होंने उपन्यासों में मध्य वर्ग के जीवन का सप्राण एवं मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्दजी एक दूरदर्शी और भविष्य-द्रष्टा साहित्यकार थे। आज का मध्यवर्गीय समाज ठीक वैसा ही है, जैसा कि उन्होंने उपन्यासों और कहानियों में उस समय चित्रित किया था।

उस युग में कृषकों तथा मजदूरों के शोषण पर जमींदारों तथा धनिक वर्ग की गरिमा आधारित थी। प्रेमचन्दजी के अनुसार जहाँ समाज में स्वार्थ की अति हो जाती है, वहीं विद्रोह और क्रान्ति का जन्म होता है। भूखा व्यक्ति राजा के प्रति विद्रोह और ईश्वर के प्रति अविश्वासी हो जाता है। वही हुआ भी। यद्यपि प्रेमचन्दजी उस युग के कृषकों की दुरावस्था के लिये उनके अन्धविश्वासों, प्रचलित कुरीतियों और रूढ़ियों को उत्तरदायी अवश्य मानते हैं, फिर भी उनके अनुसार बहुत कुछ उत्तरदायित्व विदेशी सरकार की अर्थ नीति पर भी था।

उन्होंने कृषकों अथवा ग्रामीणों की दुरावस्था के दो कारण बताये हैं—

१—अन्तरंग : इसके अन्तर्गत कृषकों की अशिक्षा, असहयोग एवं भले-बुरे की अक्षमता आदि आती हैं।

२—दूसरा कारण बहिरंग है : जिसके लिये तत्कालीन शासन-व्यवस्था—जमींदारी, उसके कारिन्दे और नगर का शिक्षित-वर्ग जिम्मेदार है। उस युग में किसानों का शोषण जमींदार, महाजन, तथा धर्माधिकारियों द्वारा किया जाता था तथा कृषकों एवं ग्रामीणों की विपन्नता का एक प्रमुख कारण पिछड़ी हुई कृषि प्रणाली होती थी, जिसमें उत्पादन की दर बहुत कम होती थी तथा खेतों पर जन-संख्या का बहुत अधिक भार रहता था। दूसरी ओर साहसी कर्मठ संघटकों के अभाव में तथा औद्योगिक यन्त्रों एवं प्रवीण कार्यकर्त्ताओं की कमी के कारण उद्योगों तथा कृषि का उचित विकास नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त उस काल की जनता भी सदैव प्राकृतिक प्रकोपों तथा झंझावातों से संघर्ष करती रही है और उचित शिक्षा के अभाव एवं असुविधाओं से त्रस्त रहती थी। सामाजिक भारतीय रूढ़िवादी प्रथा ने भारतीय आर्थिक विकास पर जितना प्रभाव डाला है— सम्भवतः संसार में अन्य किसी देश पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा है।

उस युग के श्रमजीवी, मनुष्यों का-सा नहीं,

(शेष पृष्ठ १२३ पर)

तात्विक शिला पर : राम की शक्ति पूजा

डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया

'मतवाला' का 'निराला'—श्री पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी साहित्य-जगत में काव्य, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, निबन्ध, नाटक, आलोचना तथा जीवनचरित्र आदि विविध काव्यरूपों में मौलिक और अनूदित अर्द्धशताधिक रचनाओं के जन्मदाता कहलाते हैं। अनामिका, परिमल, गीतिका, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा, आराधना, अर्चना, गीत-गुञ्ज तथा तुलसीदास आदि काव्य-कृतियों को जन्म देकर निरालाजी ने अपनी मौलिक भावना और अभिव्यञ्जना पद्धति से हिन्दी-काव्य-साहित्य को नई दिशा दी है।

भाव, भाषा और छन्दबन्ध की दृष्टि से 'जूही की कली', 'शेफालिका', 'जागो फिर एक बार', 'शिवाजी का पत्र' तथा 'राम की शक्ति-पूजा' महाकवि निराला की प्रसिद्ध रचनायें मानी जाती हैं। ये सभी रचनायें स्व संचालित 'मुक्तछन्द' जिसे केचुआ छन्द, रबड़ छन्द, स्वच्छन्द छन्द भी कहा गया है—में लिखी गई हैं। मुक्तछन्द की अन्यतम विशेषताओं में उसकी ध्वन्यात्मकता, लयता और अद्भुत शब्द-मैत्री वस्तुतः उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन समालोचकों के गम्भीर विरोध के होते हुए भी महाकवि ने 'राम की शक्ति-पूजा' इसी छन्द में लिखी है।

'देवी भागवत' और 'शिव महिम्न स्तोत्र' की कथा पर आधृत 'राम की शक्ति-पूजा का कथानक' रामचरित्र को नवीनता के साथ प्रस्तुत करता है। यहाँ राम के चरित्र का मूलाधार शुद्ध मानवीय है उसमें मानवोचित उत्कर्ष और अपकर्ष का सहज समन्वय परिलक्षित होता है। 'राम की शक्ति-पूजा' के प्राचीन कथानक में नूतन युगबोध मुखर हो उठा है। रामचरित्र को इस प्रकार से चित्रित करने का पहला और अकेला सशक्त कदम उठाने का श्रेय महाकवि निराला को ही है।

हिन्दू समाज की जानी-पहिचानी श्रीराम-कथा सीताहरण के कारण आयोजित श्रीराम-रावण समर 'राम की शक्ति पूजा' का कथानक है। अद्भुत कल्पना के दर्शन उस समय होते हैं जब राम के विश्रुत विषाक्त बाण रावण को बध करने में पूर्णतः असमर्थ हो जाते हैं। सूर्य अस्त हो जाता है और युद्ध अनिर्णीत रहता है। रामचरित्र के लिए यह आश्चर्य और अद्भुत घटना बन पड़ी है। निरालाजी का लक्ष्य श्रीराम को देवता के रूप में नहीं, अपितु मानव स्वरूप में प्रस्तुत करना रहा है जो शत्रु को शत्रु की पद्धति को अपनाकर उसे दमन और पराजित करता है।

अपनी भक्ति से रावण शक्ति द्वारा प्रदत्त अमरता का वरदान पाकर युद्ध का श्रृङ्गार बनता है और इसीलिए श्रीराम के विख्यात विषाक्त बाण उसके बध करने में असमर्थ रहते हैं। पराजित से श्रीराम नवदुर्गा का व्रत करते हैं और सेवक सम्राट श्री हनुमान को १०८ कमल-पुष्प ले आने का आदेश मिलता है। श्रीराम, देवी-उपासना में लीन और तल्लीन हो जाते हैं तथा युद्ध का संचालन श्रीराम के अनन्य समर्थ सैन्य संचालक—श्री नल, नील, जाम्बवान, सुग्रीव, अंगद, विभीषण, हनुमान तथा लक्ष्मण करते हैं। श्रीराम की उपासना की परीक्षा होती है। देवी-माँ प्रकट होकर पूजन में लीन श्रीराम से छिपकर एक कमल का पुष्प प्रच्छन्न कर लेती हैं। श्रीराम अर्ध्य के अवसर पर उस कमल पुष्प का अभाव अनुभव करते हैं अन्त में अपने 'राजीव नयन' होने का

स्मरण कर एक आँख की आहुति देने को उद्धत होते हैं। उसी समय देवी-माँ श्रीराम की उपासना से प्रभावित होती हैं और उनकी आयोजित भक्ति से प्रभावित होकर तत्कालीन हो रहे राम-रावण युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने का वरदान देती हैं।

महाकवि निराला की शक्ति पूजा की कल्पना वस्तुत: बंगाली शक्ति पूजा का हिन्दी संस्करण कहा जाना चाहिए। बंगाल में शक्ति की प्रचण्डता, भयंकरता तथा शत्रु समाप्ति की उग्रता वस्तुत: प्रसिद्ध रही है। विवेकानन्द की शक्ति-भक्ति की भाँति निराला की शक्ति-अनुरक्ति प्रस्तुत रचना में मुखर हो उठी है।

हिन्दी समीक्षकों के सम्मुख यह एक विचार का विषय बना हुआ है कि 'राम की शक्ति पूजा' क्या महाकाव्य की कोटि में आती है? जहाँ एक महाकाव्य की शास्त्रीय मान्यता और आस्था का प्रश्न है। प्रस्तुत रचना उस कोटि में खरी नहीं उतरती। कामायनी (प्रसाद), प्रियप्रवास (हरिऔध) और लोकायतन (पन्तजी) की भाँति 'राम की शक्ति पूजा' आकार बहुला कृति नहीं बन सकी तथापि उसमें प्रभावना की सम्भावना सर्वथा हुई है। महाकाव्यों में प्राचीन शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण आज पर्याप्त खूबी के साथ होना प्रारम्भ हो गया है। कामायनी स्वयं महाकाव्य की पूर्णत: शास्त्रीय पद्धति का समर्थन नहीं करती। 'राम की शक्तिपूजा' में बहि उपकरणों को देखना मात्र झरोखे से देखना है। उसमें तो व्यञ्जनार्थ की दृष्टि से देखना न्यायसंगत है। कवि ने अन्तर्द्वन्द्व चित्रण करने में साकार अनन्वय अलंकार की कथनोक्ति को चरितार्थ किया है। उसमें प्रत्येक दृष्टि से प्रभावना की प्रधानता रही है।

नाटक की कथावस्तु में पाँच कार्य अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। कवि के प्रस्तुत लघु कथानक में शास्त्रीय कथावस्तु की ये पाँचों अवस्थाएँ प्राय: परिलक्षित होती हैं। पृष्ठभूमि की दृष्टि से रवि के अस्त होने से लेकर 'आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर' तक वस्तुत: कथानक की पृष्ठभूमि मानी जानी चाहिए।

श्रीराम द्वारा शक्ति की कल्पना तथा हनुमान को एक सौ आठ कमल पुष्प लाने की आज्ञा देना तक, 'प्रारम्भ' नामक पहली कार्यावस्था है। श्रीराम द्वारा एकासन लगाकर बैठना तथा लक्ष्मण की देख-रेख में महावाहिनी का नायकत्व सँभालना वस्तुत: प्रयत्न की अवस्था कहलाती है। श्रीराम का पुरश्चरण गति से प्रगतिगामी होना हो जाता है यहीं प्राप्त्याशा के दर्शन होते हैं। श्रीराम की तपस्या की चरम सीमा पर पहुँचना ही चरम सीमा है। जहाँ श्रीराम की पूजा का एक पुष्प शेष रह जाता है। यहीं से नियताप्ति की अवस्था अवगत होने लगती है। शक्ति को प्रसन्न करना प्रस्तुत रचना का मूलोद्देश्य रहा है, यही फलागम की अवस्था मानी जानी चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'राम की शक्ति पूजा' के कथानक में पाँचों ही कार्यावस्थाओं का अत्यन्त सुन्दर तथा सूक्ष्म प्रयोग हुआ है।

कथानक के अतिरिक्त उसके प्रस्तुतीकरण के लिए व्यवहृत पद्धति, उपकरण—छन्द, अलंकार, शब्द शक्ति, गुण, बिम्बयोजना, प्रतीक विधान, भाषा, चित्रण, नाटकीयता, रस सिद्धान्त तथा अमर सन्देश—आदि तत्त्वों पर भी विचार करना अभीष्ट होगा।

मुक्त छन्द, छन्द-साहित्य में निरालाजी की निरुपमेय देन है। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' में उन्होंने जिन दीर्घाकार छन्दों को व्यवस्थित किया है वह सर्वथा अनुकरणीय है।

महाकवि 'निराला' अलंकारों के सहज प्रयोग को व्यवहृत करते हैं फलत: उनके काव्य में अनुप्रास, श्लेष, यमक, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, मानवीकरण, विशेषण, विपर्यय, व्यतिरेक तथा अन्योक्ति जैसे अनेक शब्दालङ्कारों के प्रयोग हुए हैं।

महाकवि छायावादी कविता के प्रवर्तकों में प्रमुख माने जाते हैं। इस कविता में अभिधा-शैली का अभाव परिलक्षित होता है। यहाँ अभिधा का तिरस्कार और लक्षणा-व्यंजना शब्द-शक्तियों के प्रति सहजता परिलक्षित होती है।

समग्र निराला काव्य साहित्य को देखा जाय तो यह सहज में कहा जा सकता है कि निराला-काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों का उपयोग हुआ है। वीर रस प्रधान राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक अभिव्यंजना के लिए ओज गुण मुखरित हुआ है। 'राम की शक्ति पूजा' में प्रसाद और ओज गुणों का व्यवहार हुआ है।

निरालाजी की रचनाओं में विम्ब-योजना शब्द-बिम्ब के रूप में रचे गए हैं। बिम्ब वर्णन में 'फोटोग्राफी' जैसी मात्र परिगणन की शैली नहीं है अपितु ऐन्द्रिक संवेदनात्मक आत्मिक सज्जा के साथ विन्यस्त है। 'राम की शक्ति पूजा' में रेखाचित्र की भाँति बिम्ब प्रयोग हुआ है।

निराला ने प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर परिणाम में किया है। जूही की कली, शेफाली, कुकुरमुत्ता, गुलाब, दलित वर्ग शोषित तथा पूँजीवादी परम्परा के प्रतीक हैं। 'राम की शक्ति पूजा' भी प्रतीकात्मक ही है। उसमें राम बहुत सीमा तक स्वयं कवि के प्रतीक जैसे अभिव्यक्त हैं।

निराला भाषा के धनी तथा शब्द साहूकार हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में उनकी भाषा विविधरूपा परिलक्षित होती है। संस्कृतबहुला, समासविहीन, प्रौढ़ परिमार्जित भाषा का रूप, उर्दू शब्द बहुल, हिन्दी मिश्रित भाषा के विविध प्रयोग 'राम की शक्ति पूजा' में हुए हैं।

'राम की शक्ति पूजा' में शान्त, वीर और शृंगार रस का एक साथ ही अनुपम वर्णन हुआ है। नाटकीयता 'राम की शक्ति पूजा' में पर्याप्त रूप में पायी जाती है। नेत्रों की भेंट, देवी का प्रसन्न होना, नाटकीय स्थिति की चरम सीमा है।

कवि का क्रान्तिकारी मनोभाव, आडम्बरविहीन नवीन दृष्टिकोण तथा श्रम का श्रद्धा के साथ सामञ्जस्य प्रस्तुत रचना में मुखर हो उठा है। भाषा के औदात्य ने इस कविता को मूलतः महाकाव्य की कोटि में पहुँचा दिया है।

—खिरनी गेट, अलीगढ़।

●

(शेषांश पृष्ठ १२० का)

बल्कि भार-वाहक पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते थे। आज भी हमारे ग्रामीण की दशा ठीक उस मशीन की भाँति है, जिसको तेल पानी न देकर उससे कार्य ही लिया जाता हो।

प्रेमचन्दजी के युग में विदेशी शासन का शोषण बढ़ते हुए करों का बोझ, बढ़ा हुआ लगान, जमींदार महाजन, नगर-निवासी, व्यापारी, वकील, दलाल तथा शिक्षित वर्ग के शोषण ने भारतीय ग्रामीणों को जीवित ही मुर्दा बना दिया था।

उपर्युक्त बातों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पेर पहुँचते हैं कि प्रेमचन्दजी ने निम्न मध्यवर्ग के समाज के उद्धार का निर्भीकता से बीड़ा उठाया तथा एक कर्मठ योगी की भाँति वे आगे आते हुए दिखाई पड़े। लेकिन आज का लेखक क्यों नहीं इन सब समस्यों पर लिख रहा हैं? जिस देश और समाज का वह एक अविभाज्य अंग है, क्या उसके प्रति उसका कोई लगाव नहीं है? क्या आज का लेखक इस पलायन के उत्तरदायित्व से बच सकेगा? हमें आज एक नहीं, कई प्रेमचन्द चाहिए, जो आज के किसान, मजदूर और मध्य वर्ग के प्रतिनिधि बनें, जो आज के ढोंगपूर्ण, नकली जीवन की पोल खोलें, समाज में दिन पर दिन बढ़ती जाने वाली बुराइयों का पर्दा-फाश करें और जनता में ऐसी क्रान्ति लाएँ जो हमारे देश के स्वातन्त्र्य और जनतन्त्र को स्थायित्व प्रदान करने के लिए नया मोड़ दे सकें।

—धरमकरन रोड, हैदराबाद।

अज्ञात ग्रन्थ परिचय—

भगवानदास रचित अश्वमेघ यज्ञ कथा

● अगरचन्द नाहटा

हिन्दी-साहित्य गत ८०० वर्षों में क्रमशः अधिकाधिक रचा जाता रहा है। विविध विषयक हिन्दी साहित्य का क्षेत्र और शैली का विस्तार देखते हुये यह मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी भाषा को जो स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की गई वह उसके बहुत ही योग्य है। राष्ट्रभाषा का नाम चाहे स्वतन्त्र भारत में मिला हो पर बिना नाम के भी उसने एक अपना विशिष्ट स्थान शताब्दियों से बना लिया। केवल हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में ही नहीं अन्य प्रदेशों में भी उसका प्रभाव लम्बे समय से और काफी अच्छे रूप में रहा है। संस्कृत के बाद इतना व्यापक प्रभाव भारत की किसी अन्य भाषा का दिखाई नहीं देता।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण और हिन्दी-भाषा के प्रचार में सर्वाधिक योग सन्त, भक्त एवं धार्मिक जनों का रहा है। क्योंकि भारत धर्म-प्रधान देश रहा है। इसलिये राजाओं से भी अधिक प्रभाव यहाँ सन्त, महात्माओं का रहा। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक नमस्कार करते हैं। जन-साधारण के लिये तो वे गुरू ही नहीं, परमात्मा के अवतार तक थे। साहित्यिक दृष्टि से चाहे धार्मिक साहित्य को कुछ लोग साहित्य की परिभाषा में 'फिट' नहीं कर पाते, पर हमें संकुचित परिभाषा से ऊपर उठकर जन-साधारण को जिस साहित्य ने मति-गति और प्रेरणा प्रदान की उसे साहित्य की परिभाषा में सम्मिलित करना ही होगा। छन्द, अलंकार, रस, काव्य-चमत्कार, चाहे धार्मिक साहित्य में उच्च स्तर का न हो पर भावों की समृद्धि और जन-मानस को ऊँचा उठाने की भावना तो उसमें कूट-कूट कर भरी है। लाखों-करोड़ों व्यक्तियों ने जिससे आनन्द प्राप्त किया, उसे नव-रसों की परिभाषा से ही हम तोल नहीं सकते। धार्मिक साहित्य का मूल्याङ्कन भावों की दृष्टि से होना चाहिये।

हिन्दी-साहित्य की खोज अभी तक हिन्दी-भाषी प्रान्तों में ही अधिक हुई है। पर अन्य प्रदेशों और विदेशों में जो हजारों हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों की प्रतियाँ बिखरी पड़ी हैं और उन प्रदेशों में भी जो हिन्दी-साहित्य का निर्माण हुआ है उसकी खोज किये बिना प्राचीन हिन्दी-साहित्य की जानकारी अधूरी ही रहेगी।

महाराष्ट्र प्रान्त के कवियों ने जो हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा की है उसकी तो कुछ खोज हुई है और दो-तीन ग्रन्थों में उसका परिचय और आलोचना भी प्रकाशित हो चुकी है। पर महाराष्ट्र के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहालयों में जो राजस्थान आदि प्रदेशों से हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ गईं उनकी अभी तक ठीक से खोज नहीं हुई। इनमें से कुछ ग्रन्थ तो ऐसे भी हैं कि जिनकी प्रतियाँ जिस प्रदेश या राज्य में वे ग्रन्थ रचे गए, वहाँ भी आज प्राप्त नहीं हैं।

भाण्डारकर ओरिण्टियल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में हस्तलिखित प्रतियों का बहुत प्रसिद्ध एवं विशिष्ट ग्रन्थागार है जिसमें हिन्दी के भी कुछ ऐसे ग्रन्थों की प्रतियाँ हैं, जो अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं। अब से २५-३० वर्ष पहले जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि वीरगाथा-काल के माने जाने वाले 'खुमाण रासो' की एक मात्र प्रति वहीं है, तो मैंने बीकानेर के तत्कालीन दीवान साहब सर सिरेमलजी बाफना की सिफारिश

से उस प्रति को मांग द्वारा प्राप्त किया और तब से लेकर अब तक पचासों अज्ञात ग्रन्थों की प्रतियाँ मैं वहाँ से मँगवाकर उन ग्रन्थों के सम्बन्ध में प्रकाश डालता रहा हूँ। जब स्व० पी० के० गोड़े वहाँ के क्यूरेटर थे तो मैंने उन्हें उस संग्रहालय के हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची की एक नकल बनवाकर मँगवाई थी। उनमें से पाँच-पाँच प्रतियाँ समय-समय पर मँगवाता रहा हूँ। अभी कुछ महीने पहले जिन अज्ञात पाँच हिन्दी ग्रन्थों की प्रतियों को वोंड द्वारा प्राप्त किया, उनमें से एक अज्ञात ग्रन्थ का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है। इस ग्रन्थ का नाम है—'अश्वमेध यज्ञ की कथा' और इसके रचयिता हैं भगवानदास। भगवानदास ने अपने नाम के अतिरिक्त वंश या गुरु-परम्परा तथा रचनाकाल एवं रचना-स्थान आदि की सूचना इस ग्रन्थ में नहीं दी है। पर अधिक सम्भव है यह भगवानदास 'निरंजनी सम्प्रदाय' के हों। वैसे भगवानदास नाम के अन्य कई कवि हो गये हैं। 'अश्वमेध यज्ञ की कथा' की प्राप्त प्रति निरंजनी सन्त पूरणदास के द्वारा लिखी हुई है। प्राप्त प्रति ९५ पत्रों की है जिनमें से पत्रांक ३९, ४० और ८३ से ९३ तक के पत्र नहीं हैं। ग्रन्थ में २० अध्याय हैं। महाभारत के अश्वमेध यज्ञ का विवरण दोहा छन्द में लिखा गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में कवि ने अपना नाम भगवानदास दिया है। आदि-अन्त के कुछ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

—आदि—

दो०—श्रीगुर गोविंद सारदा, संकर गवरि गयंद।
विधि नारद पद वंदिकें, कीजित छंद प्रबंद्ध ॥१
हरि बल भज है जिते, ते सब होह क्रिपाल।
चरण सरण मोहि जाँनिकें, कीजिए क्रिपा क्रिपाल ॥२
महमा ज्यग अस्वमेद की, कहत अधिक सब कोय।
तातैं वरणण करिए जो, हरि का अनुग्रह होय ॥३
सब्द संस्कृत विकट अति, जो जांने नहि जाय।
तातैं सुखदायक सरल, भाषा क्ति मन भाय ॥४
सब संतन अग्या दई, वरणिए जग्य अश्वमेध।
अस्वमेध अद्भुत कथा, भाषिए तिनके भेद ॥५
ऐसे अग्या पाव कहो, संतन कूं सिर नाय।
भगवानदास भगवत कृपा, कीन्हीं उक्ति उपाय ॥६
कथा पुरातन हे जथा, तथा कहत सब ताहि।
जे जन्मेज्य नृपति प्रति, कहि जयमुनि रिषिराइ ॥७

—अन्त—

परिकरमां परिणांम करि, विदा किया जय मुन्य।
जै जै कार भये जहां, कहत धन्य नृप धन्य ॥४८
सुर नर मुनि हरषे सकल, बरषे पहुप सुगन्ध।
जिनकै सदा सहाय है, गिरवर धर गोविंद ॥४९
भगवानदास भजिए सोइ, जग्य पुरुष जदुनाथ।
जिनके दरसण जिन किया, सो सब भए सनाथ ॥५०

इति श्री महाभारथ अस्वमेध जग्य कथा राजा जनमेजय रिषि जयमुन्य संवादे वीसमो अध्यायः। सम्पूर्ण ॥

लेखन प्रशस्ति, सं० १८७७ मिति भादवा सुदि १ वार शुक्रवारे लिखितम् थावला मध्ये, ईसर दड़ा मध्ये ॥ वैष्णु निरंजनी बाबा श्री हरनाथदासजी, तत् शिष्य खूबदासजी तस्य शिष्य पूरणदास लिखितं, पोथी खूबदासजी की ॥ राम ॥ राम ॥

—नाहटों की गवार, बीकानेर

समालोचनार्थ
प्रत्येक पुस्तक
की
दो प्रतियाँ
आनी चाहिये
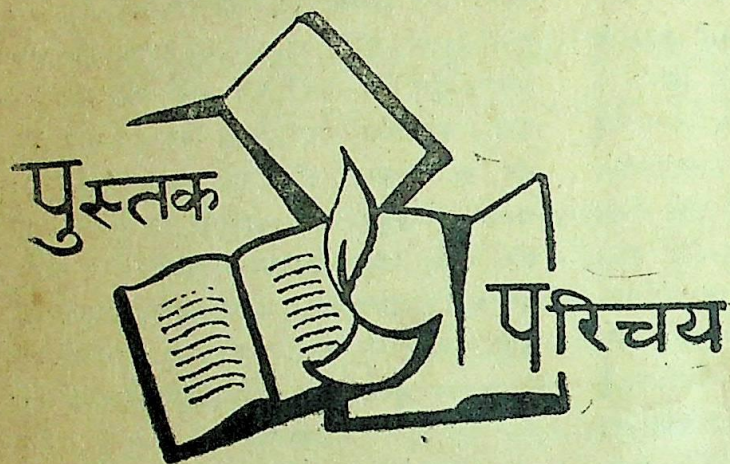
आलोचना

नई कविता—

प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली-६ ; पृ० ८०, मू. १·५०

प्रस्तुत पुस्तिका में 'नयी कविता' के चर्चनीय सन्दर्भों का उनके भागीदारों द्वारा विवेचन किया गया है। नयी कविता वर्त्तमान काल में एक युग लेकर आयातित हुई है। इस दृष्टि से उनके प्रतिनिधियों की विवेचना जहाँ महत्वपूर्ण है, वहाँ पुस्तक के अन्त में नयी कविता के कुछ दृष्टान्त उन्हें और ही चमत्कृत करने में सक्षम हुए हैं। काव्य की इस नई विधा को समझने एवं परखने के लिए प्रस्तुत संग्रह का अपना विशिष्ट स्थान होगा, ऐसी आशा है।

प्रेमचन्द—

लेखक—डा गंगाप्रसाद विमल, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली—६। पृष्ठ १६२, मू० ७.००

समीक्ष्य कृति 'प्रेमचन्द—आज के सन्दर्भ में' रख कर लिखी गई है। प्रेमचन्द को आज के सन्दर्भ में तोल कर उनकी कृतियों तथा उपलब्धियों को रखने का प्रयास लेखक ने किया है। परन्तु युग-बोध के परिवर्तित प्रवाह में परम्परा और रूढ़िगत विषयों का नया प्रस्तुतीकरण वस्तुत: नवीन का द्योतक होता है, इसीलिए इस कृति का भी अपना उचित स्थान है। प्रेमचन्द को वर्तमान के आधार पर आकलित कर लेखक ने पाठकों एवं साहित्य को एक दिशा दी है। उनकी कृतियों का तत्कालीन समाज के साथ तालमेल तो था ही, पर समय की शिला पर उसका अभ्यास भी कराया गया है। फलत: जहाँ उनकी कृतियों में गत्यात्मकता है वहाँ उनका व्यक्तित्व भी बहुमुखी प्रकाश फेंकता है।

प्रस्तुत कृति इसी को लक्ष्य करते हुए लिखी गई है। इसमें अब तक प्रेमचन्द पर लिखे सभी वादों, प्रतिवादों, भावों, विचारों, आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं के साथ अन्वेषण दृष्टि भी है। और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता हैं।

—कामता गुप्त कमलेश।

काव्य

गीत और गीत (भाग १)—

सं०—पं० भरत व्यास, प्रका०—साहित्य भारती, १० स्वदेशी मार्केट, कालबादेवी, बम्बई—२। पृ० ४६, मूल्य २.५०।

प्रस्तुत पुस्तिका चार नवोदित कवियों—मधुकर गौड़, सावित्री परमार, बी० सिंह प्रवर, रमाकान्त आजाद की कविताओं का संकलन है। कविताओं में कसक, वेदना, संत्रास के अतिरिक्त मर्मान्तक वेदना है साथ ही गेयता के गवाक्षों से इनका लय स्पष्ट बाहर झाँकता प्रतीत होता है। पर इन सब के होते हुए भी इसका अधिक मूल्य सहज ही मन को कचोटता है।

काव्य-भारती—

प्रकाशक–निदेशक, प्रकाशन-विभाग, पटियाला हाउस, नयी दिल्ली–१। पृष्ठ ८८, मूल्य १.५०।

प्रस्तुत कविता संग्रह भारत की सभी भाषाओं को अपने में सँजोये हुए हिन्दी पाठकों के समक्ष आया है। यद्यपि इन कविताओं का आकाशवाणी के सर्व भाषा कवि सभा १९६४, ६५ और ६७ के द्वारा प्रसारण हो चुका है। फिर भी इनका हिन्दी रूपान्तर उससे कहीं अधिक श्रेयस्कर तथा परस्पर तादात्म्यी-करण के परिप्रेक्ष्य में उपयोगी है। देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी वर्ग भी उनके भावों को समझ कुछ ज्ञानार्जन कर सकेगा, ऐसी आशा है।

आदमी मोहर और कुर्सी—

लेखक–डा० नरेन्द्र भानावत, प्रकाशक–अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर। पृ० ७१, मू० ४.५०

प्रस्तुत कृति में कवि की ३४ भावोर्मयी कविताएँ सगुम्फित हैं। इनका रचना काल १९५८ से १९६४ है। षट्-वार्षिक कविताओं का मध्यकाल १९६१ बहुत ही गतिमान रहा। इसीलिए शायद इस संव-त्सर में कवि ने अधिक रचनाएँ रचीं। अधिकांश कविताएँ व्यंग्य प्रधान पर एवं तीखी हैं। नयी कविता के द्युतिहीन परिवेश में इनका महत्व होते हुए भी ये स्थायित्व पाने में कशमकश करता हुआ प्रतीत होती हैं।

कवि भानावत की कविताओं में समाज-सापेक्ष व्यंग्य होते हुए भी व्यष्टिगत दोषों से दूर ही है, और यही इस पुस्तक की विशिष्टता है अथवा कवि की, यह कहना कठिन है। अन्ततः कविताएँ अच्छी एवं सत्प्रेरक तथा मार्ग प्रदर्शक हैं।

चित्रशाला—

लेखक–आनन्दशंकर माधवन, प्रकाशक–अमरा-वती, डाकघर–मन्दार विद्यापीठ, जिला भागलपुर। पृष्ठ २७७, मूल्य ८.००।

'चित्रशाला' कवि माधवन का द्वितीय काव्य-सुमन है। इसमें कवि ने 'स्व' से 'पर' और 'गृह' से 'समाज' तथा 'शान्त' से 'अशान्त' तक की दौड़ लगाई है। तीव्र-धावक ने अपने साथ पीछे भागते हुए वृक्ष एवं प्रकृति को भी इसमें मानवीय सचेतनता देते हुए संगुफित किया है एतदर्थ उनकी चित्रशाला में विभिन्न भाव सूचक प्राणवान चित्र हैं। यद्यपि कहीं-कहीं काव्य की भाषा एकदम गद्य है जिसे कविता कहना, काव्य का उपहास करना होगा। फिर भी पुस्तक के चित्र पूर्णरूपेण अनुभूतिपरक एवं स्पन्दनशील हैं। 'चित्रशाला' की कविताओं में आकर्षण तो है पर स्थिरता नहीं। काव्य का रसात्मक एवं लयात्मक होना आवश्यक है। माधवनजी इससे पूर्णरूपेण परि-चित हैं। उनकी कविता जहाँ सीधे हृदय पर चोट करती है वहां बुद्धि पर भी प्रभाव डालती है। इसी-लिए मेरी दृष्टि में उनकी कविताएँ प्रज्ञात्मक हैं न क हृदयात्मक।

समग्र रूप से पुस्तक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यदि वेदना का आविर्भाव करती है तो व्यक्तिगत जीवन में कुछ सोचने, समझने एवं मनन करने को प्रेरित करती हैं। माधवनजी आज के समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिए हमारी बधाई के पात्र हैं।

महाकाव्य

महाभारती—

ले०–पोद्दार रामावतार अरुण, प्रका०–किरण कुञ्ज, समस्तीपुर, बिहार। पृ० ५५२, मूल्य २५.००

समीक्ष्य महाकाव्य आधुनिक युग की एक ऐसी कृति है जिसका प्रस्तुतीकरण १५ सर्गों में इस भाँति किया गया है कि वह अपने मूल भूत आधार वैदिक संस्कृति का नवीनीकरण सा प्रतीत होता है। कवि की वैचारिक तुला पर आज का जन-मानस अपने पुरा-काल से प्रज्ञा के आधार पर जहाँ बहुत अग्रसर

हो चुका है वहाँ उसका मानवीय धरातल सपाट होते हुए इतना छिछला है कि जिसका अवगाहन सभी तो कर लेते हैं किन्तु गहराई तथा गम्भीरता की अनभिज्ञता में उस पर कोई ठहरता नहीं। एतदर्थ उसका जीवन नाहक तर्क जालों से उलझता हुआ स्वयं से द्वन्द्व कर अन्यों को भी पराभूत होने की चुनौती दे रहा है। इस प्रकोण में अपने आदिकालीन विचार शृंखला को समझने, बूझने तथा मनन करने में इस महाकाव्य का अपना विशिष्ट योगदान है।

कवि अरुण की साहित्य-साधना प्राचीन साहित्य और काल के गहन गह्वर में प्रविष्ट कर इस भाँति तीन स्तम्भों का निर्माण करती है जिस पर 'महाभारती' का यह विशाल प्रासाद खड़ा चमचमा रहा है। ये तीन स्तम्भ हैं—शक्ति, सौन्दर्य और साधना। स्वयं कवि का यह दृष्टिकोण उसके इस रूप का ही परिचायक है।

"मैं न शुष्क ऋषि, सामवेद का भी विधिवत् ज्ञाता हूँ
इन्द्र-काव्य की मनःशक्ति का भा-रत स्मृति-दाता हूँ
सुनता हूँ संगीत विश्व मानव के अन्तर तर का
सोमपान करता हूँ प्रतिपल शब्द-यज्ञ के स्वर का।"
पृ०—५५०

भारतीय संस्कृति का प्रेरणात्मक पृष्ठ उसके प्रत्येक पाठक को चाहे वह भारतीय हो अथवा अभारतीय सबको समान रूप से अपने शब्दाभा से आश्चर्य चकित करता है। विश्व की सस्कृति पृथक-पृथक होने पर भी यौगिक रूप में सभी एक हैं। इसी उद्देश्य एवं ध्येय की परिपूर्णता के लिए 'महाभारती' ऐसे महाकाव्य की संरचना हुई है। एतदर्थ यह काव्य जीवन और जगत् की व्यापक गतिशीलता तथा क्रियाशीलता का सम सामयिक चित्र भी प्रस्तुत करता है। पौराणिक उपाख्यान तथा कथाएँ भी अपने मूल रूप को संजोए हुए एक नूतन परिपार्श्व में अवतरित हुई हैं।

पोद्दार रामावतार अरुण भारतीय संस्कृति एवं समाज के ऐसे अनुभवी तथा साहसी अन्वेषक हैं जो कि काव्य के माध्यम से उसके छिपे मणि रत्नों को अन्वेषित कर निश्छल भाव से पाठक को सौंप देते हैं जिसे देख सभी का मानस-मयूर स्वतः ही नृत्य करने लगता है। उनकी प्रस्तुति कृति जहाँ हिन्दी के महाकाव्यों की शृङ्खला में एक अति सुन्दर कड़ी है वहाँ ही यह भावी कवियों के काव्य-सृजन की प्रेरणा भी सफल रूप में देने के अतिरिक्त उनका उपजीव्य भी प्रमाणित होकर एक नवीन आयाम देगी। साथ ही आर्यावर्त्त के वैदिक पावन-सलिल से मानसिक कल्मष का परिक्षालन होकर एक स्वस्थ, निर्मल एवं सरस हृदय का दर्शन होगा, जिसके रोम-रोम पर 'महाभारती' का प्रभाव प्रतीत होगा। इस परिप्रेक्ष्य में महाकाव्यकार अरुण हमारी हार्दिक वर्धापनिका के पात्र हैं।

—कामता गुप्त 'कमलेश'।

नाटक

महल और झोंपड़ी—

ले०-डा० दशरथ ओझा, प्रका०—फ्रैंक ब्रादर्स एण्ड कम्पनी, चांदनी चौक, दिल्ली-६, पृ० ११५, मू० १.५०।

समीक्ष्य कृति में महाराणा प्रताप और अकबर के परस्पर युद्धों को चार अङ्कों में बड़े ही सजीव ढंग से चित्रित किया गया है। प्रताप का जीवन स्वदेश प्रेम के लिए एक आदर्श रहा और अकबर का जीवन राज्य विस्तार के लिए सदैव प्रयत्नशील। इस सन्दर्भ में राणा प्रताप को सन्यासी एवं तपस्वी जीवन बिताकर भी अकबर से लड़ना पड़ा। अपने भाई जगमल और शक्तिसिंह के विरोधी होने पर प्रताप का लक्ष्य यथावत् बना रहा। अन्त में हल्दीघाटी के समरांगण में दोनों भाई प्रताप की सहायता करते हुये अपने जीवन की बलि देते हैं। नाटककार ने अभिनय को ध्यान में रखते हुए उसकी सम्भावनाओं आदि को विशेष महत्व दिया है। शायद इसीलिए इतिहासकार बदायूँनी को भी रणक्षेत्र में दिखाकर युद्ध का वर्णनात्मक दृश्य उपस्थित किया है जिससे पाठक हल्दीघाटी के गौरवपूर्ण युद्ध का आनन्द उठा सकें। रंगमंच में युद्ध वर्जित होता है, इसीलिये नाटककार ओझा को ऐसी

कल्पना करनी पड़ी जो यथार्थता उचित ही है। क्योंकि ऐतिहासिक नाटक लिखते समय नाटककार को बड़ा ही सतर्क रहना पड़ता है।

एक स्थल पर महाराणा के बच्चों एवं मानसिंह की पत्नी एवं खानखाना की बेगमों के बच्चों के साथ पारस्परिक कौतुक तथा क्रीड़ा के साथ सामूहिक गान भी नाटककार ने कराया है जो कि एकता की भावना से ओत-प्रोत है। वस्तुतः यही किशोर और किशोरियों का दृश्य ही नाटक का प्राण है। जहाँ राग एवं द्वेष को त्यागकर दोनों दलों के बालक आंख-मिचौनी खेलते हैं। तमाम बाधाओं एवं कठिनाइयों के होते हुए भी प्रताप अपनी मुट्ठी भर सेना के बल पर मुगलों की अपार सेना के छक्के छुड़ाकर अपनी गौरव रक्षा में सफल हो सके, यही इस नाटक का मूल है। फलतः झोपड़ी के आगे महल को झुकना पड़ता है। झोपडी वालों का मनोबल बहुत ही ऊँचा है जबकि महलों में विलासिता का साम्राज्य है।

समग्र रूप से नाटक अभिनेय तथा उत्साहवर्धक है। राजपूती आन तथा क्षत्रित्व के दिग्दर्शन के लिए इसका पठन-पाठन अपेक्षित है।

उपन्यास

नारी और नियति—

मूल ले०—गजेन्द्र कुमार मित्र, अनुवादिका—पुष्पा देवड़ा, प्रका०—राजपाल एन्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली-६। पृ० संख्या ८६, मू० ४.००

मुगल सम्राट शाहजहाँ का शासनकाल इतिहास का अत्यन्त गौरवशाली अध्याय है। इस युग में एक ओर जहाँ हम साहित्य, संगीत, कला एवं शिल्प का अभूतपूर्व उत्कर्ष देखते हैं वहाँ दूसरी ओर विघटनकारी तत्वों की प्रचण्डता भी चलचित्र की तरह सामने आती है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं विघटनकारी तत्वों का दिग्दर्शन कराया गया है।

नारी और नियति में औरंगजेब के समय के उस पक्ष का सजीव एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया है जिसमें औरंगजेब के छोटे भाई मुराद का बागीपन उसका सरस्वती बाई नामक एक हिन्दू लड़की के सम्पर्क में आना और अन्त में दोनों ही सच्चे प्रेमियों द्वारा आत्महत्या करने तक का वर्णन बहुत ही मार्मिक शैली में किया गया है।

औरंगजेब की कूटनीति निर्भीकताएँ एवं सफलतायें मुराद की असावधानी, सरस्वती बाई की लगन, कर्तव्य परायणता, सच्चे स्नेह और मानसिक द्वन्द्व का बहुत ही सफल चित्रण किया गया है। अन्य सहायक पात्रों में स्वामिभक्त सफीखां और असदखां विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उपन्यास में रहस्य रोमांच के साथ शृंगार रस का जीवन्त पुट उसकी रोचकता में चार चांद लगा देता है। कमलेन्दु जैन

कहानी

नानी की कहानियाँ—

ले०—रूपनारायण चतुर्वेदी 'निधिनेह', प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६। पृ० ५६ मू० १.५०।

आठ बालोपयोगी कहानियों का यह सङ्कलन है। जिसमें प्राचीन एवं नवीन आधारों पर कौतूहलपूर्ण कहानियों को रेखाचित्रों के साथ रखा गया है। भाषा एवं भाव ललित हैं। इसमें बालक-बालिकाओं का मन सहज ही रमता है। कहानी पढ़ने वाले बच्चों को इन कहानियों को अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

जीवन-चरित्र

गोपाल कृष्ण गोखले—

ले०—त्र्यम्बक रघुनाथ दिवगिरीकर, प्रका०—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, दिल्ली-६। पृ० २६६, मू० ३.००

प्रस्तुत पुस्तक अंग्रेजी पुस्तक 'गोपाल कृष्ण गोखले' का हिन्दी रूपान्तर है। प्रकाशन विभाग की यह योजना कि जो महापुरुष अपने देश की स्वतन्त्रता एवं पुनरुत्थान के लिए अपना जीवन बलिदान कर चुके हैं, उनकी जीवनियों का प्रकाशन होना चाहिए। बहुत ही श्लाघ्य है। इसी योजना के अन्तर्गत इस

पुस्तक का प्रकाशन किया गया है।

श्री गोपाल कृष्ण गोखले का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में अतिशय योगदान रहा है। वे एक महान राजनीतिज्ञ उद्‌भट विद्वान तथा उत्कृष्ट देश भक्त थे। वे आधुनिक भारत के निर्माताओं में से थे। अतएव वर्तमान पीढ़ी एवं भावी पीढ़ी के लोगों को ऐसे पुरुषों के जीवन चरित्रों, क्रियाकलापों एवं आदर्शों को पढ़ना चाहिए। तदनन्तर उसे अपने जीवन में उतार कर अपना जीवन सार्थक बनाना ही उनके कार्यों का सच्चा आकलन होगा एवं इस दृष्टि से हम आशा करते हैं कि गोपाल कृष्ण गोखले की इस जीवनी का सर्वत्र स्वागत एवं अध्ययन होगा।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—

ले०—मन्मथनाथ गुप्त, प्रका०—निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नयी दिल्ली-१। पृ० ६७, मू० १.००।

प्रस्तुत पुस्तक भारत के अमर चरित्र के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का भारत हीं क्या सम्पूर्ण विश्व में अपना विशिष्ट स्थान है। चीन से जापान तक, भारत से जर्मनी एवं ब्रिटेन तक उनके यश की गाथा बड़े उत्साह से कही और सुनी जाती है। यह कृति उनके जीवन को बड़े ही सरल ढंग से प्रस्तुत करने में सफल हुई है। वस्तुतः इसका दृष्टिकोण किशोर एवं किशोरियों को ज्ञान कराने की ओर अधिक है किन्तु हमारी दृष्टि में इसका उपयोग वे प्रौढ़ एवं युवक भी कर सकते हैं जिन्हें शिक्षा एवं देश से प्रेम है। इसकी भाषा सहज ही बोधगम्य तथा ग्राह्य है।

विविध

अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भाव के लिए शिक्षा—

अनु०—जीवन नायक, पुनरीक्षण—ए० चन्द्रहासन, प्रका०—एशियन पब्लिशर्ज, ६९५ माडल टाउन, जालन्धर। पृ० १२३, मू० ७.५०

समीक्ष्य पुस्तक यूनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है। विश्व के रंगमञ्च पर शिक्षा-व्यवसाय में अध्यापकों एवं शिक्षा विशारदों का क्या महत्व है तथा वे किस प्रकार पारस्परिक ढंग से सहयोग एवं कार्य कर सकते हैं, इसी परिप्रेक्ष्य में इसका प्रकाशन हिन्दी में हुआ है। दुनिया के इस विशाल प्रांगण में शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है है जिसके सहारे लोग एक दूसरे के विचारों एवं भावों को जान सकते हैं। सभी अध्यापकों एवं शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा दें। एतदर्थ सभी शिक्षकों के उद्देश्य एक से ही हैं। भाषा एवं संस्कृति अलग-अलग होने पर भी उन्हें आपस में स्वीकृत किया जा सकता है। उनके प्रति सभी की सद्भावनाएँ होती हैं। इसीलिए उनका शैक्षणिक मापदण्ड स्थापित करके एकसूत्र में पिरोये रखना अतीव आवश्यक है। इस पुस्तक के विचार जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय है वहाँ उनका स्रोत एक ही केन्द्र बिन्दु पर है। इस दृष्टि से पुस्तक का विषय एवं ध्येय दोनों अच्छा है। इसका सर्व शिक्षा जगत में स्वागत होगा।

प्रगति के स्वर—

अनु०—तारा तिक्कू, पुनरीक्षण—ए० चन्द्रहासन, प्रकाशक—एशियन पब्लिशर्ज, ६९५ माडल टाउन, जालन्धर। पृ० १०३, मू० ७.५०

प्रस्तुत पुस्तक में मानवीय एवं भौतिक प्रगति के सोपानों का यथा तथ्य विवरण दिया गया है। जीवन में प्राणि जगत को किस तरह उत्तरोत्तर गतिमान होना चाहिए तथा उसके साधन कौन-कौन से हैं। इन सबका बड़े ही आकर्षक ढंग से चित्रांकन किया गया है। यद्यपि यह सब यूनेस्को की प्रक्रियाओं का छायांकन ही है फिर भी इसे सत्प्रेरणा एवं सत्परामर्श ही कहना अधिक उचित होगा। यह कार्यक्रम उन्नत देशों एवं प्रगतिशील राष्ट्रों के हितार्थ किया गया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक उन देशों के लिए अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होगी जोकि प्रगति एवं उन्नत के पथ पर डगमगाते हुए कदम रख रहे हैं। समग्र रूप से पुस्तक ज्ञानवर्द्धक एवं पथ प्रदर्शक है।

रजिस्टर्ड नं० एल० 263 साहित्य-सन्देश, [illegible] 1968 लाइसेंस नं० 16.
Licensed to post without prepayment

साहित्य-सन्देश

(आलोचना प्रधान मासिक)

'साहित्य-सन्देश' आलोचना का एक मात्र मासिक-पत्र है जो गत ३० वर्षों से लगातार निकल रहा है। इसका प्रचार समस्त भारत एवं विदेशों में भी है। वार्षिक मूल्य केवल ६.०० रुपया है।

उपयोगिता—(१) हिन्दी के अध्ययन के लिए साहित्य-सन्देश अनूठा साधन है। हजारों विद्यार्थी 'साहित्य-सन्देश' पढ़कर बी. ए., एम. ए., पी-एच. डी. आदि पदवीधारी बनकर आज बड़े-बड़े कालेजों में अध्यापन कर रहे हैं।

(२) साहित्य-सन्देश के निरन्तर अध्ययन से सैंकड़ों व्यक्ति लेखक बन गए। आज के अनेक सम्मान्य लेखकों ने लिखने का आरम्भ साहित्य-सन्देश के माध्यम से ही किया है। आज भी उसे सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त है।

(३) अहिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों, अध्यापकों और प्रचारकों के लिए तो साहित्य-सन्देश एक सम्बल है जिसके सहारे वे हिन्दी का ज्ञान बराबर बढ़ा रहे हैं। इसीलिए इन प्रान्तों में भी उसकी हज़ारों प्रतियाँ जाती हैं।

मान्यता—(१) भारत के सभी प्रदेशों की सरकारों ने अपने स्कूल, कालेजों के लिए खरीदने की मान्यता 'साहित्य-सन्देश' को दे रखी है।

(२) भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालय, अधिकांश कालेज और स्कूल तथा अध्यापकगण अपने पुस्तकालयों के लिए 'साहित्य-सन्देश' खरीदते हैं।

आप भी छः रुपये धनादेश द्वारा भेजकर आज ही ग्राहक बन जाइए।

'साहित्य-सन्देश' की गत १५ वर्षों की फाइलें

साहित्य-सन्देश को निकलते ३० वर्ष हो गए। प्रारम्भ की १५ वर्षों की फाइलें क्या एक अङ्क भी उपलब्ध नहीं है। इधर १५ वर्ष की कुछ फाइलें उपलब्ध हैं। प्रत्येक फाइल में हिन्दी के श्रेष्ठ लेखकों द्वारा लिखित ५०० पृष्ठों (पुस्तकाकार में १००० पृष्ठ) की सामग्री है। ऐसी प्रत्येक सजिल्द फाइल का मूल्य केवल १०) है। पोस्टेज एक फाइल पर करीब ३) पड़ेगा। किन्तु कम से कम पाँच वर्ष की फाइलें मँगाने पर रेल द्वारा बिना खर्च भेजी जायेंगी। किस वर्ष की फाइल में कौन विशेषाङ्क है—यह नीचे देखिए। चिन्हित विशेषाङ्क अलग से भी मिल सकते हैं। ग्राहकों को ये फायलें पौने मूल्य में मिलती हैं।

सन्	वर्ष के विशेषांक	विशेषांक का मूल्य
१९५२-५३	कहानी अङ्क (पुस्तक रूप में)*	५)
१९५३-५४	आधुनिक काव्याङ्क	२)
१९५४-५५		
१९५५-५६	नाटकाङ्क (पुस्तक रूप में)*	५)
१९५६-५७	आधुनिक उपन्यास अङ्क*	३)
१९५७-५८	(१) भाषा विज्ञान अङ्क (पु. रू.)*	५)
	(२) प्रगति विशेषाङ्क	२)
१९५८-५९	(१) सन्त साहित्य अङ्क*	३)
	(२) ऐतिहासिक उपन्यासाङ्क	३)
१९५९-६०	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क*	३)
	(२) प्रगति अङ्क १९६०*	२)
१९६०-६१	(१) शोध विशेषाङ्क	३)
	(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	३)
१९६१-६२	(१) निबन्ध विशेषाङ्क (पु. रू.)*	५)
	(२) निराला विशेषाङ्क	२)
१९६२-६३	(१) साहित्य-शास्त्र अङ्क	३)
	(२) रांगेय राघव अङ्क	२)
	(३) शिवपूजनसहाय अङ्क*	२)
१९६३-६४	(१) बाबू गुलाबराय अङ्क*	३)
	(२) वीर काव्य विशेषाङ्क	२)
१९६४-६५	(१) द्विवेदी अङ्क*	२)
	(२) राष्ट्र कवि गुप्त विशेषाङ्क*	२)
१९६५-६६	(१) हरिऔध विशेषाङ्क*	२)
	(२) विद्यापति विशेषाङ्क*	२)
१९६६-६७	(१) प्रवेशाङ्क*	२)
	(२) रत्नाकर विशेषाङ्क*	२)
१९६७-६८	(१) नव वर्षाङ्क*	२)
	(२) बच्चन विशेषाङ्क*	२)

साहित्य-सन्देश कार्यालय,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा-२

भारतेन्दु जैन द्वारा साहित्य-प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित